आधुनिक-हिन्दी-साहित्य

भाग दो

[हिन्दी साहित्य परिषद् मेरठ के सौजन्यसे]

सम्पादक :
नगेन्द्र एम. ए., स. ही. वात्स्यायन

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक—आधुनिक हिन्दी साहित्य भाग २—हिन्दी साहित्य परिषद् मेरठके द्वितीय और तृतीय अधिवेशनोंमें पढ़ेगये निबंधोंका सङ्कलन है। परिषद्का शिलान्यास करते समय उसके जन्म-दाताओंका उद्देश्य एक ऐसे केन्द्रकी स्थापना करना था जहाँपर हमारे साहित्यके निर्माता और अध्येता दोनो ही एकत्रित होकर नवीन जीवनके प्रकाशमें अपने सिद्धान्त और कर्मका पर्यालोचन करसकें। फलतः इसका कार्यक्रम आरम्भसे ही प्रचारात्मक न होकर विचारात्मक रहा है। इन दो अधिवेशनोंमें भी परिषद्के कार्यकर्त्ताओं ने अपनी परम्पराको, जोकि उद्देश्यकी दृष्टिसे अवश्य ही महत्वपूर्ण है, बनाये रखनेका विनम्र प्रयत्न किया है। उसमें जितनी सफलता अभीष्ट है उतनी अभी नहीं मिलपायी—वास्तवमें विचार-विमर्शका जो धरातल हम स्थिर करना चाहते हैं वह अभी नहीं करपाये। इसका एक स्पष्ट कारण तो यही है कि हमारी शक्ति और साधन सीमित हैं—परन्तु थोड़ा-सा दायित्व हिन्दी के कृती साहित्यकारोंपर भी है जो हमें उचित सहयोग नहीं देसके। यह परिषद्का दुर्भाग्य ही है कि अभीतक वे इसे अपनी अन्तरङ्ग संस्था नहीं समझ पाये।

एक शब्द पुस्तकके नामके विषयमें भी कहना आवश्यक है। मुझे स्मरण है पिछली बार एक लेखकने पहले भागकी आलोचना करतेहुए आपत्ति की थी कि 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' नाम इसकेलिए अधिक व्यापक है। आपत्ति एक दृष्टिसे तो ठीक थी, क्योंकि उसमें आधुनिक हिन्दी साहित्यका पूरा क्या आधा भी लेखा-जोखा नहीं था।—दूसरे भागके विषयमें भी यही सत्य है। परन्तु इसके उत्तरमें हमारा निवेदन है कि 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' एक स्वतन्त्र पुस्तकका नाम न होकर सम्पूर्ण मालाका नाम है जिसके अन्तर्गत मेरठ परिषद्के तत्वावधानमें समय - समयपर प्रकाशित होनेवाले आधुनिक साहित्यसे सम्बद्ध ग्रन्थ गुम्फित रहेंगे। इस दृष्टिसे देखनेपर, हम समझते हैं, उपर्युक्त शीर्षकमें किसी प्रकारकी अतिव्याप्ति नहीं मिलेगी।

प्रस्तुत सङ्कलनकी रूपरेखा बनानेमें हिन्दीके मेधावी कलाकार भाई

वात्स्यायनजीका विशेष योग रहा है—एक प्रकारसे यह उनकी ही कृति है। उनकी अनुपस्थितिमें बीबीने [श्रद्धेया बहिन होमवतीजीने, जो समय-असमय पर हमपर अपने अधिकारका प्रयोग करती रहती हैं] इस बार भी हमें पकड़ बुलाया। परिषद्से वे माताकी भाँति प्रेम करती हैं और हमसे सहोदराकी भाँति।—हम इस सम्बन्ध सूत्रसे भलीभाँति अभिज्ञ थे और इसीलिए बिना किन्तु-परन्तुके हमको यह दायित्व स्वीकार करनापड़ा।

प्रार्थना है कि आप हमारे साध्यको पहले देखें, और सिद्धिको बादमें।

—नगेन्द्र

—स० ही० वात्स्यायन

अनुक्रमणिका

◆

कलासमीक्षा

साहित्य और मनोविज्ञान

साहित्य के मूल्य

हिन्दी साहित्यकी प्रगति

कलाकी भारतीय परिभाषा और उसके सम्बन्धमें भारतीय दृष्टिकोण

परम आनन्दकी उपलब्धि, केवल अनुभूति ही नहीं, वास्तविक उपलब्धि, भारतके सभी धार्मिक सम्प्रदायोंका, सभी दार्शनिक विचारधाराओं का चरम लक्ष्य है। दूसरे शब्दोंमें परम तत्त्व, चाहे उसे ब्रह्म कहिए, ईश्वर कहिए, शून्य कहिए वा जो भी—यहाँ नामोंका झगड़ा नहीं है, आनन्द-स्वरूप है—रसो वै सः। गीतामें यही बात समझाकर कही गयी है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं, रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

निग्रहसे, विषयों और इन्द्रियोंके असंयोगकी साधनासे विषय तो छूट जाते हैं, किन्तु उनसे मिलनेवाले रसकी लिप्सा दूर नहीं होती, वासनारूपसे बनी रहती है। कबतक? जबतक परम रसका साक्षात् नहीं होता। यतः वह परम रस है अतः सारे रस स्वभावतः उसीमें अन्तर्भुक्त होजाते हैं। गीतामें ही आगे चलकर इसका स्पष्टीकरण किया है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
× × ×
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।

अर्थात्, आत्यन्तिक सुख इन्द्रिय सुखोंके परे, फलतः बुद्धिगम्य है, और वह सुख ऐसा है कि उसमें स्थित होजानेवालेको भारी-से-भारी दुःख भी विचलित नहीं कर पाता।

इसी बुद्धिग्राह्य, बुद्धिगम्य सुखकी अभिव्यक्तिका साधन कला है। कलाकार अपनी कृति द्वारा उस परम रसका, उस आत्यन्तिक बुद्धिग्राह्य सुख का एक मूर्त्त प्रतीक प्रस्तुत करदेता है। और, ऐसे प्रतीककी उपासना द्वारा, आराधना द्वारा, सेवा द्वारा रसिक सहृदय उस परमानन्दका स्पर्श पाता है।

भारतीय दृष्टिकोणसे कलाकी यही परिभाषा होसकती है। हम केवल उसके लक्ष्यसे ही यह लक्षण नहीं बनारहे हैं। काव्यकी जो परिभाषा अपने

यहाँ है उसे यदि व्यापक रूपसे लगाइये तो वह काव्यकी ही परिभाषा नहीं रहजाती; चित्र, मूर्त्ति, कविता, संगीत आदि कलामात्रकी परिभाषा होजाती है। वस्तुतः कलामात्रको परिभाषाको ही काव्यकी परिभाषा बनानेकेलिए, एकदेशीय रूप देकर काव्यकी परिभाषा प्रस्तुत कीगयी है। अर्थात्, काव्य की परिभाषाकी पूर्ण व्याप्ति तभी होती है जब हम "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" के स्थानपर— "कृतिःरसात्मिका कला" कहें वा "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" के बदले "रमणीयार्थप्रतिपादिका कृतिः कला"।

हम अपने मनसे ऐसा कहते हों, सो बात नहीं। अन्य कलाओंकी जो प्रामाणिक मीमांसा अपने प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलती है, उनमें वे रसकी अभिव्यक्तिका साधन ही मानी गयी हैं। कई ग्रन्थोंसे ऐसे प्रमाण उद्धृत न करके हम विष्णुधर्मोत्तर पुराणके ही अवतरण यहाँ देना चाहते हैं क्योंकि, एक तो यह ग्रन्थ काफी प्राचीन, आरम्भिक मध्यकालका अर्थात् सातवीं-आठवीं शतीका है। दूसरे, इसमें यह विशेषता है कि काव्य (श्रव्य तथा दृश्य) गान, नृत्य - अभिनय, चित्र और मूर्तिको कलाओंको एक इकाई मानकर उनके प्रकरण एकही ठिकाने दियेगये हैं। अन्य ग्रन्थोंमें यह बात नहीं है। या तो वे अपने अपने विषयके स्वतन्त्र शास्त्र हैं वा यदि कहीं उनकी एक सङ्ग चर्चा है तो वह विष्णुधर्मोत्तरपर ही अवलम्बित है। फिर, चित्रकला पर तो अभीतक कोई ग्रन्थ भी नहीं मिला है। हाँ, आरम्भिक ११ वीं शती के अभिलषितार्थचिन्तामणि नामक ग्रन्थमें स्पष्ट करके कहा है कि रस-चित्रों से रसोंकी अभिव्यक्ति होती है, देखतेही दर्शकका उन रसोंसे तादात्म्य हो-जाता है।

अस्तु विष्णुधर्मोत्तरके उक्त कलाओंके सम्बन्धवाले कुछ वचन यहाँ उद्धृत कियेजाते हैं।

नाट्य नव-रसमय है—

शृङ्गार हास्य करुणा वीर रौद्र भयानकाः।
वीभत्साद्भुत-शान्ताख्या नव नाट्यरसाः स्मृताः।

गान तो रसपरक है ही, उसके स्वर और लय तक रसपरक हैं।

पूर्वोक्ताश्च नव रसाः। तत्र हास्यशृङ्गारयोर्मध्यम-पंचमौ। वीर-रौद्राद्भुतेषु षड्जपंचमौ। करुणे निषादगान्धारौ। वीभत्सभयानकयोर्धैवतम्।

शान्ते मध्यमम्। तथा लयाः—हास्यशृङ्गारयोर्मध्यमाः । वीभत्सभयानकयो-र्विलम्बितम् । वीररौद्राद्भुतेपुद्रुतः ।

नृत्त—

रसेन भावेन समन्वितं च, तालानुगं काव्यरसानुगञ्च ।
गीतानुगं नृत्तमुशन्तिधन्यं सुखप्रदं धर्मविवर्धनञ्च ॥

चित्रोंमें भी—

शृङ्गार-हास्य-करुणा-वीर-रौद्र-भयानकाः । वीभत्साद्भुत-शान्ताख्या नव चित्र-रसाः स्मृताः ॥

और प्रतिमा तो शिला, लकड़ी वा धातुओंमें निर्मित चित्र ही है—

यथा चित्रं तथैवोक्तं खातपूर्वं नराधिप ।
सुवर्णरूप्यताम्रादि तच्च लौहेषु कारयेत् ।
शिलादारुषुलौहेषु प्रतिमाकरणं भवेत् ॥

इन वाक्योंसे जब यह बात निर्विवाद होजाती है कि उक्त कलाओंका उद्देश्य भी रसोंकी अभिव्यक्ति ही है तब हम निश्चित रूपसे कहसकते हैं कि हमारे यहाँकी काव्यवाली उक्त परिभाषाएँ, जो तत्त्वतः एक ही हैं, कलाकी ही व्यापक परिभाषाका एकदेशीय रूप हैं ।

जब ऐसी बात है तो उस परिभाषामें ही इस प्रश्नका उत्तर भी निहित है, कि हमारे प्राचीनोंका कलाके सिद्धान्त (थियरी) और प्रयोग (प्रेक्टिस, ऐप्लिकेशन) के सम्बन्धमें क्या दृष्टिकोण था। जब कला रसकी अभिव्यक्ति है, रमणीयताकी अभिव्यक्ति है तो उतनेमें ही उसके उद्देश्य और सिद्धि दोनोंकी, परिभाषा प्रतिपादित होजाती है । अर्थात्, सिद्धान्तकी अवस्थामें भी कला किसी रसात्मक, रमणीयात्मक अभिव्यक्तिका नाम है और प्रयुक्त होनेपर, काव्य, गान, नाट्य, चित्र वा प्रतिमाका रूप पाकर स्फुट होनेपर, मूर्त्त होनेपर भी रसकी, रमणीयताकी ही अभिव्यक्ति है । तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम 'कला, कलाके लिए' (आर्ट फॉर आर्ट्स सेक) मानने वाले थे । मुझसे पूछा जासकता है—"और, काव्यं यशसे, अर्थकृते, व्यवहार विदे........?"

अधीर न हूजिए । तनिक इसपर तो विचार होने दीजिए । 'रस अथवा रमणीयताकी अभिव्यक्ति' का तात्पर्य क्या है ? 'कला कलाकेलिए'

है क्या बला? ये 'यशसे, अर्थकृते, व्यवहारविदे' आदि तो कलाके अवान्तर, बिलकुल निम्न स्तरके, उद्देश्य हैं। कोई कलाकार यशकेलिए अपनी कृति तैयार करता है, कोई जीविका अर्जनकेलिए, कोई लोकको विचक्षण बनानेकेलिए। किन्तु यह सब वह तभी न करसकेगा जब उसमें निर्माणकी क्षमता होगी; साथ ही वह निर्माण रसीला होगा। दूकान कितनीही ऊँची क्यों न हो, मिठाई फीकी हुई तो ग्राहक वहाँ क्यों पहुँचने लगे?

कलासे हमें रस क्यों मिलता है? इसलिए कि वह कलाकारकी अनुभूतिका स्वान्तः सुख है जो उसमें समा नहीं सकता, मूर्त्त रूपमें उमड़ पड़ता है। ममाखी स्वयं रसका अनुभव करती है, उसका सञ्चय करती है और फिर उसका मधुकोष बनाकर वितरित करती है। कलाकारका मधुकोष है उसके हृदयकी वेदना, उसके हृदयकी तड़प। वह हृदय जो विश्वके कण-कणकेलिए उन्मन होरहा है, द्रवित होरहा है, जो अपनी उदार बाहें पसारकर निखिल ब्रह्माण्डको परिवेष्टित करनेमें समर्थ है, समर्थ ही नहीं है, सचमुच उसका आश्लेष करके आनन्दमें विभोर है।

वाल्मीकिके ऐसे ही विगलित हृदयने—

मा निषाद, प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वती समाः,
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

के रूपमें सहसा अपनी अभिव्यक्ति की थी।

इसी कारण भवभूतिका तो यहाँतक दावा है कि—एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्। अर्थात् निमित्त-भेदसे एक करुण रस ही, मानो भिन्न-भिन्न स्वरूप ग्रहण करता है। 'मानो' शब्दके बलको तो देखिये। कवि यह माननेकेलिए प्रस्तुत नहीं कि वे रूप पृथक्-पृथक् हैं; वे हैं करुण रसके ही आकार, लगते-भर हैं अलग-अलग। वस्तुतः यह दावा है भी एक बहुत बड़ी सीमातक ठीक। आइए, उदाहरणोंसे इस तथ्यपर विचार करें।

कल्पना कीजिए कि एक पक्का जुआरी है, जिसने कौड़ीकी लतके पीछे घरकी कौड़ी-कौड़ी फूँकडाली है। पत्नीके तनपरसे एक एक छल्लातक उतरवा लिया है। छोटे-छोटे बच्चे दाने दानेको बिलखरहे हैं। सारा परिवार कष्ट और दुर्दशामें निमग्न है। फिरभी वह जुआरी अपने नशेमें मस्त है और उसकेलिए पैसेका प्रबन्ध करनेकेलिए जघन्य-से-जघन्य, भीषण-से-

भीषण कर्म कर डालता है। समाज उसे नारकीय कहेगा, जाने किस-किस प्रकार दण्डित करना चाहेगा; किन्तु कलाकारका दृष्टिकोण सांसारिक दृष्टि-कोणसे भिन्न है। वह दुष्कर्मसे घृणा करता है किन्तु दुष्कर्मीके प्रति, उसकी बेबसीके कारण कलाकारको सहानुभूति है, उसका हृदय रो उठता है। इसी प्रकार किसी चोर, हत्यारे, कुलटा, सामान्या, स्वेच्छाचारी, आततायी, अत्याचारी इत्यादि-इत्यादिका पतन कलाकारकेलिए दयाका विषय है, करुणाका विषय है।

प्रेमकी टीस, मुहब्बतका दर्द जिसके कारण स्त्री पुरुषपर, पुरुष स्त्री पर, माता पुत्रपर, सेवक स्वामीपर और भक्त भगवानपर, निछावर होजाता है किंवा, वही टीस जब उत्साहके रूपमें परिणत होकर युद्धवीरको अपनी जानपर खेल जानेकेलिए प्रेरित करती है, दानवीरको अपना सर्वस्व देडालने केलिए उद्यत करती है वा दयावीरसे शरीर उत्सर्ग करादेती है, तो प्रेमकी इस अभायिकतासे भी, जिसमें आदर्श और सौन्दर्यका भेद नहीं रहजाता, कलाकार विगलित होउठता है और उसकी कृतिमें एक तड़प कौंध उठती है। अथवा, यों कहिये कि प्रेमकी उस टीससे उसके हृदयकी एकतानता होजाती है जिसे वह अपनी कृतिके मूर्त्त रूपमें अभिव्यक्त करता है। करुण रसकी यह व्यापक परिधि हम इतनी विस्तीर्ण करसकते हैं कि उसमें सभी रसोंका समावेश होजाय। किन्तु, जो उतना माननेकेलिए प्रस्तुत न हो उनके लिए इतना ही अलम् होगा कि कलाकारकी प्रत्येक कृति एक सहानुभूतिमय अभिव्यक्ति है।

कलाकारको यह तथ्य अवगत है कि अशोभनमें भी भगवान्की रचनाकी एक शोभा है, सुकुमारता है, जिसे शोभनके साथ निरखकर ही लीलामयकी इस अनन्त लीलाका पूरा पूरा रस मिलसकता है। अथवा यों कहिये कि कलाकारकेलिए परमात्माकी रचना कहींसे भी अशोभन नहीं। इस तत्त्वको वह जानता-मानता ही नहीं बल्कि हमें प्रत्यक्ष कर दिखाता है।

ऐसी रचनाकेलिए किसी दूसरे लक्ष्यकी अपेक्षा नहीं रहजाती वह स्वतः पूर्त्ति है। निरुद्देश्य निर्माण है, अतः 'कलाकेलिए कला' है।

कलाको रसात्मक अथवा रमणीय कृति बताकर हमारे यहाँ यही सिद्धान्त स्वीकृत हुआ है, यह कहनेमें मुझे तनिक भी आगा-पीछा नहीं। किन्तु, शर्त यह है कि वह कृति रसात्मक हो। कलाकार जिस प्रकार एक

सरस घनघटाको अङ्कित करता है, उसी प्रकार एक धूल-भरी आँधीको भी तो प्रत्यक्ष कर दिखाता है ।.उसकी घटाको निरखकर जिस प्रकार हमारा मनोमयूर नाच उठता है उसी प्रकार उसकी आँधीका अनुभव करके मानों हम गर्दसे नहा उठते हैं, नाकमें धूल भरजानेसे हमारा दम घुटने लगता है, आँखोंमें किरकिरी पड़जानेसे वे गड़ने लगती हैं। जब वह हमें एक हरा-भरा निकुंज दिखाता है तो हमारी आँखें विश्राम पाती हैं एवं हमारा हृदय शीतल होउठता है, और इसके विपरीत एक सूखे ठूँठे वृक्षका अंकन (भलेही वह शब्द-चित्र, स्वर चित्र, वा दृश्य-चित्र हो) हमें उदास करदेता है।। ये उदाहरण हमने इसलिए लिये हैं कि कलाकारकी अनुभूति, सहानुभूति और अभिव्यक्तिका परिमण्डल मानव-जगत्तक ही सीमित नहीं। सारा चराचर, विश्व ब्रह्माण्ड, सोभी केवल बाहरी नहीं, अपितु, उसका कारणभूत अन्तर्विश्व ब्रह्माण्डतक, कलाकारके परिमण्डलके अन्तर्गत है।

परन्तु, यदि वह कृति ऐसी है कि हम आँधीके संग स्वयं धूल-धक्कड़ बनकर बिना किसी और ठिकानेके उड़ने-पुड़ने लगते हैं वा एक ठूँठ बनजाना पसन्द करते हैं तो वह कलाकृति नहीं, वह उसके विपरीत है। वह सात्विक आहार नहीं है जो आयु, सत्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ाता है। स्नेहपूर्ण, सरस, स्थायी और हृद्य है। वह, वह राजस और तामस आहार है जो तीखा है, चरपरा है, नमकीन है (सलोना नहीं), रूखा, उष्ण और विदाहक है। वह सड़ा-गला, घिनौना, दुर्गन्धित, जूठा-कूठा और बासी-तिबासी है। वह अमेध्य है। "रसो वै सः" का नैवेद्य नहीं हो सकता।

क्या एक विलासी वा विलासिनीका वासनामय चित्रण कला वा शृंगार रस है ? वह अत्यन्त प्रीति (रति) को तो प्रस्फुटित नहीं करता, हमारे भीतर एक आग अवश्य भड़का देता है। प्रीतिकी पराकाष्ठा तो उस विरही राममें है जो सीताके अभावमें, अपनी यज्ञ-क्रियातकमें, जिसमें अर्द्धाङ्गिनीका होना अनिवार्य है, दूसरी पत्नीका वरण नहीं करता, उनकी स्वर्ण-प्रतिमा बनाकर ही कर्मकाण्डका थोथापन पूरा करता है । वही कहनेका अधिकारी है—"अहो विरहजं दुःखं एको जानाति राघवः"। विरह ऐसेको न होगा तो क्या बहुनायकको होगा ? रसकी रमणीयताकी यह पराकाष्ठा है। सौन्दर्यकी यह परिसीमा है, जहाँ सौन्दर्य और आदर्शका अभेद है।

जिस समय गुप्तजीके द्वापरकी राधा कहती है—

शरण एक तेरे मैं आई
धरे रहें सब धर्म हरे,
बजा तनिक तू अपनी मुरली
नाचें मेरे मर्म हरे !

वा कुब्जा कहती है—

तेरी व्यथा बिना, सुन मेरी
कथा न पूरी होगी;
तू चाहे जिसका योगी हो
मेरा क्षणिक वियोगी।
तेरे जन अगणित परन्तु मैं
एक विजनता तेरी;
बस इतनी ही मति है मेरी,
इतनी ही गति मेरी।

उस समय क्या कला और आदर्शकी पूर्ण अद्वैतता नहीं होजाती ?

ऐसी अभिव्यक्ति हो तो वह निःसन्देह रसीली है, रमणीय है। यही है आत्यन्तिक सुख, बुद्धिग्राह्य, अतीन्द्रिय, ब्रह्मानन्दका प्रतीक।

यहाँ काका कालेलकरका एक अवतरण दिये बिना मन नहीं मानता:

"......इस प्रश्नको लेकर काफ़ी चर्चा हुई है कि कलामें नग्नता का दर्शन कराया जाय या नहीं।......पुराने ज़मानेमें हमारे तान्त्रिकोंने नग्नताकी उपासना कुछ कम नहीं की है और हम उसके परिणाम भी देख चुके हैं; हमारी भाषाका निन्दित अर्थमें व्यवहृत होनेवाला 'छाकटा' 'शाक्त' शब्दपरसे ही बना है, और यही इस प्रश्नका यथेष्ट उत्तर है। लेकिन नग्नता में भी पूर्ण पवित्रताका दर्शन कराया जासकता है। दक्षिण भारतमें भद्र-बाहु, बाहुबलि, गोम्मटेश्वरकी नंगी मूर्त्तियाँ हैं। ये इतनी बड़ी और विशाल हैं कि कई मीलकी दूरीसे लोग इन्हें देखसकते हैं, पर इन मूर्त्तियोंके चेहरों पर मूर्त्तिकारोंने ऐसा अद्भुत उपशम भाव दरसाया है कि वह पवित्र नग्नता दर्शकको पवित्रताकी ही दीक्षा देती है।

इस प्रकार कला जब तटस्थतासे रसके निदर्शनकेलिए ही कोई

अभिव्यक्ति करती है तभी वह कला कहलानेकी अधिकारिणी है। और, उस समय उसके उद्देश्य और सिद्धिमें अभेद होजाता है—"जानत तुमहि तुमहिं ह्वै जाई"। इसी दृष्टिसे हमारे पूर्वजोंने कलाको देखा है। उनकी उस दृष्टिको यदि हम आजकलके शब्दोंमें अनूदित करें तो वह 'कला कलाके लिए' के अतिरिक्त और क्या है?

यह समझना भूल होगी कि प्राचीनोंकी उक्त कला-परिभाषा एवं कला-विषयक दृष्टिकोण एक पुरातन सिद्धान्तमात्र है। वह चिर सत्य अतएव नित्य अद्यतन है।

कला-समीक्षा और पूर्वग्रह

कला एक ऐसा विषय है जिसके बारेमें बकवाद करना बहुतही सरल है, और बुद्धिमानीकी बात करना उतनाही कठिन। किसीने इसका कारण समझानेका प्रयत्न करते हुए कहा था, "जब मैंने पहिले-पहल यह अनुभव किया कि दो और दो चार, और चार ही, होते हैं, तब मुझे एक अतीव सन्तोष और सुख हुआ"। बात यह है कि मानव मन हमेशा ही ऐसी "सन्तुष्टियों" का भूखा रहता है। हम सदा ही "शाश्वत तत्त्वों" और "सनातन सत्यों" को अनुभव करनेकेलिए लालायित रहते हैं, यह जाननेकेलिए कि २+२ हमेशा, हर परिस्थितिमें, चार ही के बराबर होते हैं। यद्यपि वास्तवमें यह "सत्य" केवल एक गणितका ही सत्य है—क्योंकि दो और दोके जोड़नेसे अनेक प्रकारके बिलकुल अप्रत्याशित परिणाम भी निकल सकते हैं। यहाँतक कि इकाईमेंसे भी दो या अधिक बन सकते हैं। मसलन रक्तकणों (ब्लड सैल्स) को लेलीजिए, और इससेभी विचित्र बाते होसकती हैं, खासकर कलामें।

एक उदाहरण लीजिए। आजसे १५-२० वर्ष पूर्व बंगालमें "अजन्ता स्कूल" का प्रादुर्भाव हुआ। उसके अनुयायियोंने प्राचीन अजन्ताके भित्तिचित्रोंके रंग, भावभंगी, और अङ्कन (डिज़ाइन) के साथ पाश्चात्य (क्यारॅस्क्यूरो) का संमिश्रण किया, उसमें आजकलके निसर्गवाद (नैचुरॅलिज़्म) का पुट मिलाया, और साथही कई एक आधुनिक सन्तुलन (बैलेन्स) और लालित्य (ग्रेस) की धारणाएँ भी उसपर प्रयुक्त कीं। यह सब लक्षणाएँ प्रशंसनीय और वाञ्छनीय हैं। अतः ऐसी आशा की जासकती थी कि उनके संश्लेषणसे एक-एक अभूतपूर्व, अत्युत्तम नहीं तो उत्कृष्ट, कला आविर्भूत होगी। परन्तु वास्तवमें ऐसा हुआ नहीं--कम-से-कम आजकल हम यही सोचनेलगे हैं कि यह प्रयोग विफल रहा। यद्यपि आजसे बीस वर्ष पहले जब इस शैली का जन्म हुआ था, हम मुक्तकण्ठसे उसकी प्रशंसा ही करते थे। आज तो हम इसी निष्कर्षपर पहुँच सकते हैं कि इस प्रकारके विरोधी गुणोंको निश्चित करनेसे सभी एक-दूसरेको काट डालते हैं, और यह अवश्यम्भावी है कि फल शून्यके आस-पास ही हो। अर्थात् यहाँ २+२=०।

जैसाकि ऊपर कहा, मानव-हृदयमें "सनातन सत्यों" की एक दुर्दमनीय-भूख है। फलतः कई एक धारणाएँ हमारे बिल्कुल अनजानेमें ही हमारे मनमें घर करलेती हैं। हम शायदही उन धारणाओं, उन रूढ़िजन्य मतैक्योंकी विवेकपूर्वक आलोचना करते हों। इन मतैक्योंमें कोईभी परिवर्तन बहुतही मन्थर गतिसे होता है, और अनजानेमें ही, यद्यपि कालान्तरमें काफ़ी विभेद होजाता है। परिणाम यह होता है कि हरएक युगमें किन्हीं विशिष्ट कला-विषयक धारणाओंके विरुद्ध पूर्वग्रह होते हैं—या यों कहना चाहिए कि विशिष्ट धारणाओंके परिणामोंके विरुद्ध यद्यपि इन पूर्वग्रहोंमें एक प्रकारका साम्य भी है, और वह यह कि वह इस विश्वासपर स्थापित होते हैं, कि कलाके सम्बन्धमें भी सार्व-भौम और सदा-विश्वास्य, अपरिवर्तनीय, सर्वसामान्य नियम हैं जिनकी तुलना गणितके "दो जमा दो बराबर चार" से की जासकती है। परन्तु सच तो यह है कि कलाविषयक ऐसे शाश्वत सनातन "नियम" हो ही नहीं सकते—क्योंकि कला अपनी तर्कपद्धतिका निर्माण स्वयं करती है।

परन्तु यहाँ यह भी इङ्गित करदेना अभीष्ट है कि अङ्कनके मूलतत्त्वांश (एलिमेण्ट्स ऑव डिज़ाइन) स्थायी, नित्य और सीमित हैं, जिनमें विशेष तबदीलियाँ नहीं होसकतीं। इसलिए आप कहसकते हैं कि सौन्दर्याङ्कनके बारेमें नियम गढ़े जासकते हैं। कदाचित् यह भी सम्भव हो कि व्यक्तिमात्रकेलिए उन तत्त्वोंकी अनुभूति भी सम्भव होसके--बशर्ते कि आप दृश्य और गूढ़, आकृति और अन्तर्भूतार्थ (फ़ॉर्म एण्ड कॉन्टेन्ट) को अलग-अलग बाँट सकें। यहाँ गूढ़से हमारा तात्पर्य मनोरथ (इन्टेन्शन) से है, अर्थात् अभिव्यक्तिके पीछे निहित कलाकारके उद्देश्यसे। यह बिल्कुल सम्भव है कि हम किसी स्थापत्य-कलाकी वस्तुपर उसकी वाह्याकृति (एक्सटरनल फ़ॉर्म) के कारणही मुग्ध होजाँय, और फलतः हमें लगे कि हम उस कलावस्तुकी शुद्ध सौन्दर्यानुभूति (ईस्थेटिक ऐप्रिसियेशन) कररहे हैं, परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि अङ्कनके मूलतत्त्वांशोंकी समष्टि ही कला नहीं है। क्योंकि सच तो यह है कि कलावस्तुका आकार (फ़ॉर्म) स्वयंभू नहीं है, वरन् उसकी उत्पत्ति गूढ़से, निहित उद्देशसे ही हुई है। आकार सदाही हेतुजन्य है और यह कथन प्रत्येक कला और प्रत्येक कलावस्तुपर लागू है। भलेही हम यह समझते हों कि किसी कलावस्तुका आकार (फ़ॉर्म) अच्छा,

वाञ्छनीय है, या होसकता है, और उसके मूल उद्देशको हम बालाएताक़ रखकर भी कलावस्तुकी समीक्षा करसकते हैं। हमें यह सदा याद रखना चाहिए कि उद्देश्यने ही रूप, आकारको जन्म दिया है। नहीं तो समीक्षा करते समय अनर्थ होसकता है।

निहित मनोरथ और आकारके इस पारस्परिक सम्बन्धको हम यदि न भूलें, तो स्पष्ट है कि जबभी हम किसी विशिष्ट कलाके प्रतीक एक कला-वस्तुके इरादे (इन्टेन्शन), उद्देश्य, की ओर उदासीन हों या उसकी प्रतीति ही नहीं करसकें, तब वास्तवमें हम उस कलाको ही दूषित ठहगरहे हैं, उस कलाके प्रति ही उदासीन हैं, उसकी अनुभूति नहीं प्राप्त कररहे। यहाँ पुनरुक्तिके दोषसे न डरकर फिर कहूँगा कि कलाकारका उद्देश्य, उसका इरादा, बहुतही महत्त्वकी चीज़ है, और समीक्षक या आलोचक उसको एक ओर रखकर कलावस्तुका दिग्दर्शन नहीं करसकता।

कुछ उदाहरण लीजिए। आलोचना करते समय हम कहते हैं कि कोई ललित कलाकी चीज़ "हमें आनन्द देती है" अथवा "सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित करती है" अथवा कि वह "प्रकृतिका आइना है"। परन्तु यह सम्भव है कि आनन्द देने, आइना बनने, या प्रतिबिम्बित करने, मेंसे एकभी उद्देश्य कलाकारका न हो—अभिव्यक्ति करते समय उसका इरादा इन सबसे विभिन्न ही हो। जैसे, ईसाके सूलीपर चढ़ाये जानेका चित्रण उसी प्रकारका "आनन्द" देनेकेलिए अभिव्यक्त कियाहुआ नहीं होसकता जैसाकि एक सुन्दर स्त्रीका चित्रण। इसी तरह जब हमारे कलाकारोंने कुम्भीपाक या रौरव नरकका चित्र बनाया है, तब प्रायः उसका उद्देश्य हमें नरक दिखलादेना ही रहा है—एक प्रकारसे हमें "जहन्नुममें पहुँचाना" ही वहाँ ध्येय था। मध्यकालीन तिब्बती चित्रकलामें राक्षसोंका, प्रेतात्मा और पिशाचोंका, नरकके विभिन्न रूपोंका, चित्रण बहुधा होता है। ऐसे दृश्यों के निरूपण (चित्रण) से भी एक तत्कालीन विशिष्ट आनन्द (ईस्थेटिक जॉय) का अनुभव होसकता है, इस बातको चित्रकार जानता अथवा मानता था, यह हम नहीं कहसकते। इसी तरह प्राचीन यूनानके स्थापत्य-कलाकारोंके लिए भी दुःख और सौन्दर्यका कोई सम्बन्ध नहीं था—वे तो अपूर्व सौन्दर्य की व्यञ्जनाको ही धर्म और वाञ्छनीय समझते थे। प्रकटमें दुःखदायी, अथवा दुःखजन्य, दृश्योंसे भी एक ईस्थेटिक आनन्द आता है, एक विशिष्ट

रसानुभूति होती है, यह धारणा तो बहुत बादमें आयी। अरस्तूने अपनी "दुःख द्वारा मनोरंजन" (कैथारसिस थ्रू ट्रैजेडी) सम्बन्धी धारणा अलबत्ता काफ़ी प्राचीन कालमें बनाली थी, परन्तु कला-क्षेत्रमें इस उपपत्ति का प्रवेश, और उसपर आचरण, बहुत समय, बल्कि सदियों, बाद हुआ।

इसी प्रकार जो लोग कहते हैं कि कला प्रकृतिका आइना है, या उसको आइना होना चाहिए, उन्हें मैं सम्वेदना-विहीन (विदाउट सेन्सिबिलिटी) ही कहूँगा। उन्होंने या तो कभी प्रकृतिको वास्तवमें "देखा" नहीं, या फिर कलाको समझा नहीं। "दर्पणके समान प्रतिबिम्बित करने" के उनके इस आदर्शको यदि पूर्णतया कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रयत्न कियाजाय तो कलाकारका लोप ही होजायगा--हाँ यह अलबत्ता है कि कारीगर-चित्रकारों (क्रैफ्ट्समैन) को काफ़ी काम मिलजायगा। यहाँ यहभी जतलादेना आवश्यक है कि यदि केवल (इन्फ़ॉर्मेशन) का ही प्रश्न हो, तबभी हम यही देखते हैं कि एक फ़ोटोग्रैफ़रके लेन्स-द्वारा खचित अनुकृतिसे हमें उतनी इन्फ़ॉर्मेशन नहीं मिलती जितनी कि एक कुशल इलस्ट्रेटरकी हस्तकुशलतासे। इसका कारण समझना कठिन नहीं, क्योंकि इलस्ट्रेटर अपनी विवेक-बुद्धिके द्वारा महत्त्वविहीन और अप्रासंगिक अंशों (इर्रेलिवेण्ट डिटेल्स) को काट-छाँटकर अलग करदेता है, और फलतः हमें अपेक्षाकृत अधिक-एकरस वस्तु देखनेको मिलती है। अतएव स्पष्ट है कि इस क्षेत्रमें भी वास्तविक मूल्यकी चीज़ आदमी, व्यक्ति है, माध्यम अथवा मूर्त्त (ऑबजेक्ट) नहीं।

यह रूढ़ कहनेके बाद कुछ फ़तवे दिये जासकते हैं। जो लोग कला के समीक्षक (आर्ट क्रिटिक्स) होना चाहते हैं उन्हें पूर्वग्रहके बग़ैर होना चाहिए। हाँ जो कलाके प्रेमी कहलानेके ही इच्छुक हैं वे बेशक अपनी पूर्व-धारणाओंका यथेष्ट उपयोग करें, यद्यपि ऐसा करनेकी ज़िम्मेदारी उन्हींपर होगी। इसके विपरीत यदि एक कलाकार अपनी रचनाके बारेमें पूर्वाग्रही (प्रेजुडिस्ड) नहीं हो तो वह कलाकार ही नहीं है।

अपने इन फ़तवोंका ज़रा निरीक्षण कियाजाय। पहला फ़तवा हमने यह दिया कि कला-समीक्षकमें पूर्वग्रह नहीं होना चाहिए। यह तो स्वीकार करना ही होगा कि यदि एक न्यायाधीश किसी स्त्री अपराधीका रङ्ग-रूप पसन्द आजानेके कारण ही उसके पक्षमें फैसला देदे, तो उसे

अन्यायी ही मानना उचित है। कला निष्क्रिय (अकर्मक, पॅसिव) है; दर्शक का मन ही सकर्मक (सक्रिय, ऐक्टिव) होता है। आलोचकको कलावस्तु का निरीक्षण और समीक्षा करते समय निष्पक्षभाव (तटस्थभाव) रखना चाहिए। परन्तु साथ-ही-साथ उसके मनको क्रियाशील, सचेतन और पूरी तरह संवेदनाशील (सेन्सिब्ल) होना चाहिए। गुणोंकी तलाश उसे करनी ही चाहिए, और उनकी अच्छाई स्वीकार करनी चाहिए -- भलेही अन्य अनेक कारणोंसे उसे आलोच्य वस्तु अच्छी न लगती हो। (ध्यान रहे कि यहाँ गुणसे मेरा तात्पर्य अच्छाइयोंसे नहीं है, प्रत्युत केवल क्वालिटीज़से)। अब हम देखते हैं कि जब हम अतीतकी कलाका, अपेक्षाकृत प्राचीन कला का, समीक्षण करने बैठते हैं, तब हमारा असन्तोष इतना कम होता है कि उससे हमारी निष्पक्षतापर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणतया, हमारे देशमें सदियोंसे धार्मिक और पौराणिक विषयोंको चित्रित करनेकी प्रणाली चलीआती है। उनकी आलोचना करते समय हम एक प्रकारसे उन्हें शुरूसे ही 'स्वीकार' करलेते हैं, और अपनी जाँच-पड़ताल इतने तक ही सीमित रखते हैं कि भिन्न-भिन्न कलाकारोंने किस तरहसे एकही विषय को चित्रित किया है, एकही निमित्तको बर्त्ता है। सारांशमें कह सकते हैं कि कई एक कला-विषयों (जैसे कि उल्लिखित पौराणिक और धार्मिक विषय) का प्रत्यक्ष-जीवनसे सम्बन्ध एक प्रकारसे टूट-सा गया है, और वह केवल गवेषणा और बहसके मज़मून ही रहगये हैं। इन स्थलोंपर और अमुक-अमुक स्तरोंपर हमारी आलोचना-शक्ति तक़रीबन पूर्ण-तटस्थ (ऑब्जेक्टिव) होगयी है, और इस परिस्थितिमें हम "अच्छे चित्रों" के बारे में उपपत्तियाँ निर्धारित कर सकते हैं। ऐसा कर सकनेका कारण यह है कि यहाँ हमारा कोई खास व्यक्तिगत अनुराग (इन्टेरेस्ट) नहीं होता। हम कई एक बुद्ध-मूर्त्तियों अथवा काली, महाकाली, शिव, गणेश प्रभृतिकी मूर्त्तियो और चित्रोंका मुकाबिला कर सकते हैं। क्योंकि हम अब बहुधा उनकी आराधना नहीं करते (और करते भी हैं तो उतने ज़ोमसे नहीं जैसे कि प्राचीन कालमें)। साधारणतया अबहम केवल कला-समष्टिमें उनका एक दूसरेके साथ कितना और क्या तारतम्य है यही देखते हैं, और देखकर सन्तोष करलेते हैं। इसी तरह हम राजपूती, गढ़वाली, या पहाड़ी शैलियोंके चित्रोंमें भी विभिन्न-विभिन्न नायिकाओंका अथवा जुदे-जुदे प्रदेशचित्रणों (लैंडस्केप्स) का

तारतम्य करते हैं, और अधिक गहरा नहीं जाते। प्राचीन अथवा पाश्चात्य चित्रकारोंकी रचनाओं (जैसे टिश्यन, होलबाइन, म्युरिल्लो, वैन आइक) का भी तारतम्य हम करते हैं। कारण यह है कि हम इन चित्रोंको कुछ अलग होकर देखते हैं। यद्यपि यह भाव भी हममें निहित रहता है कि वह प्राकृतिक दृश्योपर ही निर्धारित हैं। अन्ततोगत्वा हम कुछ वीतराग, निर्लिप्त, दृष्टिसे ही पूर्वकालीन चित्रोंकी आलोचना करते हैं।

इससे विपरीत जब हम आधुनिक कालके प्रदेश-चित्रण करनेवालों की आलोचना करने बैठते हैं (मसलन देवेन्द्र ठाकुर, गगनेन्द्र ठाकुर, ठाकुर सिंह, कोरो, ह्विस्लर, मोने, सिज़ैने प्रभृति) तब हमारी निर्लिप्ति उतनी नहीं रहती। वहाँ व्यक्तिगत बातोंका प्रवेश होता है। क्योंकि अब यह चित्र केवल प्रदेशचित्र ही नहीं रहते, वे अब हमारेलिए "कला-सम्बन्धी धारणा-विशेषकी अभिव्यक्ति" भी होजाते हैं, और इसलिए पद्धति-सम्बन्धी पूर्वग्रहोंका संग्राम शुरू होजाता है।

परन्तु समीक्षककेलिए यह सब होतेहुए भी मुख्य बात यह नहीं है कि इन सबमें कौनसी धारणा और कौनसी पद्धति, अभिव्यक्ति सर्वोत्तम है। उसका मुख्य हेतु इतना ही होना चाहिए, उसका कर्त्तव्य इतना ही है, कि वह यह निर्णय करे कि अपनी-अपनी पद्धति, अपनी-अपनी शैलीमें कौन-कौन अपेक्षाकृत अच्छे, और कौन उत्तम हैं। और यह कि पद्धतिकी परिभाषा करनेके बाद किसी एक पद्धतिमें जो अच्छे नहीं हैं उन्हें अलग करके हमारे सामने रखे। आलोचकको दी हुई बातों परसे ही निर्णय करनेका प्रयत्न करना होगा, अर्थात् केवल उन्हीं प्रतीकोंसे जिन्हे कलाकारने उसके समक्ष रखा है। उसे यही देखना है कि जिन धारणाओं, जिन बातों, जिस उद्देश्यको लेकर कलाकार चला था, उन्हींके अनुकूल और अनुरूप उसकी कृति किस हदतक है। तात्पर्य यह कि कलाकारकी अपनी ही कसौटीपर उसकी कृति कितनी खरी उतरती है, यही देखना समीक्षकका काम है।

उदाहरणतया प्रसिद्ध चित्रकार टर्नरको ही लीजिए। प्रारम्भमें टर्नर ने क्लॉड लोरेनकी नक़ल की, परन्तु बादमे उसकी शैली बिलकुल विभिन्न होगयी थी। अब जहाँतक कि टर्नरने लोरेनकी नक़ल करना स्वीकार किया है वहाँतक अगर समीक्षक एक चित्रकारको दूसरेके बाटपर तौले, तो योग्य है। परन्तु इस झमेलेमें पड़ना, इस बातका निर्णय करना, कि टर्नरके अन्तिम

कालमें उसकी धारणाएँ, उसके उद्देश्य, गूढ़-हेतु, "वास्तविक कलाके सिद्धान्तोंके" अनुकूल हैं या नहीं, अथवा कहाँतक प्राकृतिक नियमोंके अनुसार सच्चे बैठते हैं—इस सबकी पड़ताल करना समीक्षकका काम नहीं है। उसका काम केवल इतनाही है कि प्रत्यक्ष बातोंसे टर्नरके उद्देश्योंकी परिभाषा करे और निर्णय करे कि उनतक पहुँचनेमें वह किस हदतक सफल हुआ है। (यहाँपर ठाकुरसिंह और ह्विस्लरपर भी इसी प्रकारसे विचार किया जा सकता है। क्योंकि ठाकुरसिंहने ह्विस्लरकी शैलीका अनुगमन किया है, यह स्पष्ट है।)

एक उदाहरण और लें। सिज़ैनेकी कला कहाँतक मोनेकी कलासे बढ़कर है, यह बताना आलोचकका काम नहीं। उसका काम यही है कि दोनों क्या-क्या करनेका प्रयत्न कररहे थे इसका अन्वीक्षण करे, और यह बताए कि कहाँतक वे अपने-अपने ध्येयतक पहुँचनेमें समर्थ हुए हैं। और अगर ध्येयका पता सहसा समीक्षकको नहीं चलता—जैसा कि आधुनिक कला में प्रायः होता है—तब उसे निर्भीक होकर कहना चाहिए कि "मुझे पता नहीं, क्योंकि प्रस्तुत बातें मेरी समझमें नहीं आतीं"। परन्तु यहाँपर भी वह कलावस्तुके अङ्कन और रङ्गके सामञ्जस्यपर भी अपनी टिप्पणी दे सकता है, क्योंकि यह चीज़ें कलाके उन तत्त्वांशोंमें से हैं जो सदा समझमें चाहे न आते हों पर सदा अनुभाव्य तो हैं ही। जो लोग भी "न समझने" पर कुपित होकर या उससे आतङ्कित होकर फैसला कर मारते हैं कि आलोच्यवस्तु निकम्मी या उत्कृष्ट या और कुछभी है, उन्हें अच्छा समीक्षक नहीं कहा जा सकता, और न उन्हें ही जो किसी विशिष्ट अनुभूतिसे विहीन हैं।

अब हम अपने दूसरे फ़तवेपर आयें। हमने कहा था कि लोग कला-प्रेमी होनेमें ही सन्तुष्ट हैं। वे अपनी पूर्वधारणाओंको निरंकुश होने दे सकते हैं, परन्तु साथही ऐसा करनेकी ज़िम्मेदारी भी उन्हींकी होगी।

किसी वस्तुपर प्रेम करनेका अर्थ है उससे आकर्षित होना, यहाँतक कि उसके वशीभूत होजाना। प्रेमी "क्यों" कभी नहीं पूछता। उसको 'पूर्वाध्ययन' के बिनाही "ज्ञान" होता है—नहीं तो वह प्रेमी ही नहीं। साथ ही प्रेमी गुरुजनोंसे परामर्श भी नहीं करता और न वह चहेती वस्तुकी अस्लीयत अथवा आन्तरिक गुणका सुबूत ही माँगता है। अतः यह बिलकुल संभव है कि वह अपना प्रेम किसी अयोग्य व्यक्ति या कलावस्तुपर

बरबाद करदे। इसमें दुर्भाग्य उसीका होगा। और दोष भी उसका अपना ही, किसी अन्यका नहीं। परन्तु, मैं कहूँगा, कि बिलकुल प्रेम न करनेसे अपने प्रेमको "बरबाद करदेना" लुटादेना, कहीं अच्छा है। अपने दूसरे फ़तवेको लें तो कह सकते हैं कि किसी भी कलावस्तुकी तीव्र अनुभूति न पानेके बदले किसी ऐसी कलावस्तुपर सच्चा स्नेह करना जो बादमें चाहे स्वयं हमको ही घटिया और अयोग्य प्रतीत होनेलगे, कहीं अधिक वाञ्छनीय और इष्ट है। किसी पहाड़ी चित्रकारकी एक निम्नकोटिकी रचनापर, जिसके लिए सच्चा आदर हो, एक मिल्कियत लुटादेना अच्छा है, बनिस्बत इसके कि हम बिहज़ाद अथवा कहाद (अकबरके दरबारके दो प्रसिद्ध चित्रकार) की किसी उत्कृष्ट रचना द्वारा, जो कि हमारेलिए कोई अर्थ न रखती हो, एक बड़ी धनराशिका उपार्जन करलें। क्योंकि "कलात्मक मूल्य" और "आर्थिक मूल्य" दो बिलकुल विभिन्न चीज़ें हैं।

एक और बात है। जिसपर कि ध्यान दियाजाना चाहिए। हम यदि यह मानें कि कला एक ध्येयकी ओर जानेका साधन है, स्वयं अपना ही उपादान नहीं, तब यह स्पष्ट ही है कि ध्येय अनेक और विभिन्न हैं, यद्यपि आलोचनाकी दृष्टिसे उसके उपादान, साधन, सीमित और शाश्वत हैं। जैसे कि समतुलन, आकाराङ्कन, एकतामें अनैक्य अथवा विविधतामें एक-रसता इत्यादि इत्यादि।

सच तो यह है कि हम किसी "कला" से आकृष्ट नहीं होते, बल्कि उसकी देनसे, उससे जो वह हमें निवेदन करती है। वह देन क्या होती है? कई एक भावों, विचारों, अनुरागोंकी एक समष्टि। किसी कलाकारकी सृष्टि का यदि थोड़ा मनन करें, तो हमें मालूम होगा कि कलाकारकी सौंदर्य-मीमांसा किसी एक दिशामें अपेक्षाकृत अधिक सफल हो सकती है, दूसरीमें नहीं। कलाकारकी कारीगरी, उसका टेक्निकल कौशल तो अलग बात है, और उसका विवेचन भी अलग ही करना चाहिए। यद्यपि पाठक शायद इस विभेदको सहसा स्वीकार न कर सकें। परन्तु कलाकारके दो पहलुओंको, अर्थात् उसके एस्थेटिक और टेक्निकल पहलुओंको, अलग-अलग देखना ही समीक्षककेलिए अभीष्ट है।

कुछेक दृष्टान्त देदेना उचित होगा। नीचे बताये सात चित्रोंको मैंने बारी-बारीसे अपने कुछ कलाप्रेमी मित्रोंको दिया, और कहा कि मुझे बतायें

कि वह उन्हें रुचे कि नहीं; यदि हाँ तो क्यों, यदि नहीं तो क्यों। सारांश कि इन चित्रोंके प्रति उनकी क्या प्रतिक्रिया है। इस बातका यथेष्ट अवकाश उन्हें दिया गया कि अपने-अपने विचार ठीक-ठीक निर्धारित करलें। उन्हीं प्रतिक्रियाओंमेंसे कुछ उद्धरण यहाँ देरहा हूँ। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि कला-समीक्षाकी दृष्टिसे इससे आगे कुछ कहा ही नहीं जा सकता। परन्तु ऊपर पूर्वग्रहोंके अस्तित्व (और विशेषतया कलाप्रेमीमें) के बारेमें और तज्जन्य ज़िम्मेदारीके बारेमें, जो कुछ कहागया है, उसकी परिपुष्टि इन उद्धरणोंसे बखूबी होजाती है। और मेरा विचार है कि ये प्रतिक्रियाएँ औसत कलाप्रेमीके विचारोंको व्यक्त करती हैं। समीक्षककी बात नहीं कर रहा, यद्यपि समीक्षाका भी काफ़ी पुट इन प्रतिक्रियाओंमें पायाजाता है। परन्तु वह गौण रूपसे आया है।

जो चित्र मैंने चुने उनके नाम यह हैं:—

	चित्र	चित्रकार
(१)	महलोंकी गुड़िया	देवीप्रसाद रायचौधरी
(२)	रुधिर	नन्दलाल बसु
(३)	दि स्पिरिट ऑव रॉक	गगनेन्द्रनाथ ठाकुर
(४)	भयभीत शिकारी	अज्ञात
(५)	अज्ञान	देवीप्रसाद रायचौधरी
(६)	सिहल युद्ध	अजन्ताका एक भित्तिचित्र
(७)	लाइट ऑव एशिया अथवा इन क्वेस्ट ऑव लाइट (सत्यकी खोजमें)	कनु देसाई

यह सभी चित्र प्रसिद्ध हैं और विख्यात चित्रकारोंके हैं, यह स्पष्ट है। प्रतिक्रियाओंसे पता चलता है कि इनमेंसे हरेकको हम विभिन्न दृष्टिकोण से देख सकते हैं—कई तरहके पूर्वग्रह उनपर लागू कर सकते हैं—वी मे ऐप्रोच देम विथ प्रेजुडिसेज़ इन वेरियस डिरेक्शन्स—जैसे 'भयभीत शिकारी' में चित्रित "कहानी" की तरफ कइयोंका झुकाव हुआ। अपने मारेहुए हिरनपर सहसा कहींसे आकर सिंहका झपटना और शिकारीका सहमकर घोड़ेकी रास खींचलेना, "शिकारीके चेहरेपर क्रोध, विस्मय, किंकर्तव्यविमूढ़ता और भय, इन सबका चित्रकारने बड़ाही स्वाभाविक चित्रण किया है"। एक दूसरे

मित्रको इस चित्रकी कथावस्तु "सबजेक्ट मैटर" कुछ ओछी-सी लगी। और उन्होंने यह भी कहा कि यह चित्र "पहली ही दृष्टिमें अपना सबकुछ कहदेता है, उसका भाण्डार एकदम उँड़ेला जाकर बस समाप्त होजाता है। यह इसका दोष ही है"। परन्तु यह मित्र इस चित्रके "रङ्गोंके सम्मिश्रण" "हारमॅनी ऑव कलर्स"पर सचमुचही मुग्ध होगए। मुक़ाबिलेमें इन मित्रको "इन क्वेस्ट ऑव लाइट" बहुत पसन्द आया। मुक्तकण्ठसे बोले "मैं तो गान्धी-भक्त हूँ भाई, और फिर गान्धीजी एक महान आत्मा हैं, उनका चित्र बनाना चाहिए ही, और वह स्वतः अच्छा होगा"। उनसे जब मैंने पूछा कि चित्रकारने गान्धीजीकी पीठ ही हमें क्यों दिखलाई है, और उन्हें हमसे अलग, दूर जातेहुए क्यों दिखलाया है, तो सिर खुजलातेहुए बोले कि "इसपर विचार नहीं किया, पर वास्तवमें हैं गान्धीजी सचमुचही "लाइट ऑव एशिया"। मैंने टोका कि अगर चित्रका नाम "पलायनशील भिखारी" या "दरिद्रनारायणकी पीठ" या ऐसाही कुछऔर रखदिया होता, तबभी आप इसे मूल्यवान समझते, या उसका कलात्मक महत्त्व आपकेलिए कम होजाता? यह सुनकर वे बहुत बिगड़े और बोले कि मैंने गान्धीजीका अपमान किया। (इन सज्जनकी प्रतिक्रिया वैयक्तिक है, यह स्पष्ट है। टेकनीक और ध्येय के झमेलोंमें पड़ते नहीं दीखते)। "अज्ञान" पर एक मित्रने कहा कि "मैं सनातनी हिन्दू होनेके कारण इसपर राय नहीं दे सकता—गोया हिन्दू चित्रकारको अपनेही धर्म-सम्बन्धी विषय चुनने चाहिए! दूसरेने कहा कि भला ऐसी मस्जिद किसीने देखी है कभी! तीसरे सज्जन चित्रके रङ्गोंपर मुग्ध थे, और उसके मोज़ेकपर। "स्पिरिट ऑव द रॉक" एक सज्जनको केवल "बैंगनके भुरतेकी याद दिलाता" था। दूसरे निष्पक्ष रहनेका प्रयत्न करतेहुए बोले कि महर्षि ठाकुरने बनाया है इसलिए है अवश्यमेव अच्छी चीज़, पर मैं नहीं समझता। तीसरे मित्रको उसमें "एक अपूर्व नैराश्य, पर साथ-ही-साथ एक दुर्दमनीय शक्ति, निहित दिखलाई दिये। इस चित्रको देखकर एक भव्य भाव मेरे मनमें पैदा होता है, एक ठेस-सी लगती है। शान्तिकेलिए मन पिपासित हो उठता है और संसारके कोलाहलपूर्ण अन्यायों के प्रति विरोध जागता है।"

"महलोंकी गुड़ियाको" लेकर वादविवाद ही होगया। "भला ऐसे कपड़े कोई पहनता है? खासकर मुग़लोंके ज़मानेमें!" "चेहरेपर कोई

भाव है ही नहीं, जैसे मुर्दा हो!" "रङ्ग तो ऐसे हैं जैसे शाहदरेका फ़र्श हो—मालूम होता है कि बनानेके बाद चित्रकारने ऊपर कूचा फेरदिया हो। बिलकुल फीका, ड्रैब! ऐसे महलको मुग़लोंका महल कौन कहेगा? "तात्पर्य यह कि जिन्हें पसन्द नहीं आया उन्होंने अपना असन्तोष कुछ कटुताके साथ ही प्रकट किया। अब चित्रके पक्षमें भी कुछ सुनिए। "चित्रित बाला या स्त्रीका चेहरा भावशून्य बनानेमें ही कला है। चित्रकार प्रतीकसे बतलाता है कि किस प्रकार महलोंकी बाहरी टीमटामवाले, पर आन्तरिक महत्त्वसे विहीन, जीवनसे अन्तमें अपना व्यक्तित्व घुट मरता है। रङ्गोंको ड्रैब बनानेमें भी यही ध्येय निहित हैं, वस्त्राभूषण ढेरों हैं, पर आत्मा कुण्ठित होगया है—उनका असर यही होता है कि सारा जीवन ही ड्रैब होजाय। इस चित्रमें जो वैषम्य हैं उनसे चित्रकारने यही दिखलाया है। एक निस्सहाय आत्माके कदर्य हननका चित्रण करनेमें क्या वह भड़कीले रङ्ग काममें लाता?" "सिंहलयुद्ध" के बारेमें यही तय रहा कि "हमारे बड़ोंने बनाई है। रङ्ग बड़ी कुशलतासे काममें लाये गये हैं और आजतक वैसेही दीखते हैं, यह कमाल है। परन्तु भाव-भङ्गिमा नैसर्गिक नहीं, कुछ ज्यामितिक-सी मालूम पड़ती है,. और कुछ फोर्स्ड-सी।" किसीने कहा कि "चित्रकी कथावस्तु बहुत बड़ी है, जैसे पूरा उपन्यासही व्यक्त करदेनेका प्रयत्न कियाहो।" "हाँ भई, है अच्छा, कलात्मक।"

"रुधिर" में एक सज्जनको स्त्री और पुरुषके पैरोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखलाई दिया। "और यह कोई बड़ी बात नहीं है।" दूसरे बोले कि "मैं इस चित्रकी ओर देख नहीं सकता—यह इतना भीषण है। इसमें मुझे सदियोंसे रौंदे जातेहुए गरीबोंकी असहाय चीत्कार, हृदयहीन नृशंस पूँजीपतियों द्वारा दूसरोंको पददलित करके उनका रक्तशोषण करना, दीखता है। न मालूम यह पैर अभी कितना और भटकेंगे, किस-किसका मलीदा करेंगे! न भाई, यह मुझे और मत दिखलाओ।" तीसरे मित्रने कहा कि "भला बवाईमेंसे इतना खून निकल सकता है? अगर रक्तका फ़व्वारा न बनाकर एक पतली धार ही बनाई होती तो चित्रणको नैसर्गिक कहा जा सकता—यद्यपि तबभी अतिशयोक्ति कुछ रह ही जाती। परन्तु ताहम पैरोंको ऐसी दक्षतासे चित्रित करनेपर मैं अभिनन्दन ही करूँगा।" (इन सज्जनको गरीबोंका पददलित होना अथवा पूँजीपतियोंका उन्हें दलित

करना, दोनों ही बातें अप्रासंगिक लगीं और बोले कि "चित्र देखकर आप यह नहीं निर्णय कर सकते कि पैर दलन करनेवालेके हैं या दलितके···।" लेखकके अपने विचारमें दोनोंको ही इङ्गित करना चित्रकारको अभीष्ट था। खैर।

अब यह स्पष्ट होगया होगा कि कलाकी समीक्षा या उसके प्रति प्रेम, पूर्णतया दर्शकके व्यक्तिगत दृष्टिकोणपर निर्भर है। और मज़ा यह है कि यह सभी दृष्टिकोण ठीक होते हैं, चाहे उनमें आपसमें एक दूसरेके साथ कितना ही मतभेद हो। कारण एकबार ऊपर इङ्गित करचुका हूँ। द्रष्टा क्रियाशील तत्त्व होता है, और कलावस्तु उसकेलिए अकर्मक लक्ष्य। अर्थात् कलावस्तु, कलाकार द्वारा उसके ध्येयकी अभिव्यक्ति, केवल एक उद्दीपक है, जो देखने वालेके मनमें विभिन्न प्रकारकी प्रतिक्रियाएँ प्रवर्तित करती है। यह सम्भव है कि कलाकारका वास्तविक ध्येय कुछ औरही रहा हो, और दर्शक अपनी प्रतिक्रिया द्वारा उस ध्येयको महसूस ही न करसका हो। इस परिस्थितिमें इस दर्शक विशेषकेलिए उस कलाकारकी कला निष्फल है। यद्यपि यह सम्भव है कि कोई कुशल समीक्षक कलाकारके मूल ध्येयसे ऐसे दर्शकको परिचित करादे, और बादमें दर्शकका अभिप्राय बदल जाय। परन्तु हर हालतमें दर्शक अगर कलाप्रेमी है तो उसको अधिकार है कि अपनी प्रतिक्रिया के निर्माणमें किसी समीक्षककी या अपनेही समीक्षक अंशकी, सहायता ले या न ले—बशर्ते कि वह इस चुनावमें अपनी ज़िम्मेदारीका भी क़ायल हो।

अब रही तीसरे फ़तवेकी बात। ऊपर यह दिखाया गया है कि समीक्षकको पूर्वग्रहसे दूर रहना चाहिए, जबकि कलाप्रेमीको उनका उपयोग करने की स्वाधीनता है—बल्कि कलाप्रेमीमें पूर्वग्रह होने अवश्यम्भावी और कुछ हदतक वाञ्छनीय भी हैं। परन्तु जब हम स्वयं कलाकार ही को लेते हैं तब मैं यह कहूँगा कि उसकेलिए पूर्वाग्रही होना अनिवार्य है, नहीं तो वह कलाकार ही नहीं है। अधिक-से-अधिक उसे कारीगर कहा जा सकता है।

कारीगर उसको कहते हैं जिसने इस बातकी शिक्षा हासिल की हो कि किसी वस्तुविशेषका निर्माण किस प्रकार करना होता है। कारीगरकी यह शिक्षा अतीतके कारीगरोंके सञ्चित अनुभवपर निर्धारित होती है। कला के कई ऐसे पहलू भी हैं जिनके सम्बन्धमें कलाकारको ऊपर लिखे अर्थमें 'कारीगर' कहा जा सकता है और उसे कारीगरी सिखलाई जा सकती है, जिसके

फल-स्वरूप वह पहिलेसे अधिक कुशल टेकनीश्यन होजाए। परन्तु इस प्रकारकी शिक्षासे ही जिसका जन्म हुआ हो वह कृति वास्तविक "कला" नहीं कही जा सकती, और न यह शिक्षा प्राप्त करलेनेके बाद यही दावा किया जा सकता है कि कलाकार पहिलेसे उत्कृष्ट कलाकी रचना करने लगा है। क्योंकि कलाकारको अभ्यास 'कराया' नहीं जा सकता—वह केवल स्वयं ही अभ्यास 'कर' सकता है, क्योंकि सिर्फ़ उसे ही पता है कि वह क्या अभिव्यक्त करना चाहता है। दूसरे कलाकारोंने अपने-अपने ध्येय अभिव्यक्त करते समय जो-जो साधन प्रयुक्त किये हैं उनको वह आज़माये भलेही, परन्तु अन्ततोगत्वा उस साधनका जो कलाकारके व्यक्तिगत, निजी, ध्येय तक उसे पहुँचानेमें समर्थ हो, कलाकारको स्वयं ही निर्णय और संकलन—कभी-कभी तो आविष्कार— करना पड़ेगा। एक बार जब कलाकारको निश्चय होजाय कि उसने ऐसा साधन पालिया है, रास्ता खोजलिया है, तो उसे अडिग उसी पर चलना चाहिए। दर्शकको प्रशस्त-मना होनेसे जो लाभ होता है वह कलाकारको नहीं हो सकता। कलाकारकेलिए तो विवेकशील, 'अक्लमन्द' बनना अभीष्ट नहीं है। उसे दूसरोंका दृष्टिकोण समझनेकी आवश्यकता नहीं (यद्यपि अगर समझले तो कोई हानि नहीं, परन्तु लाभ कदापि नहीं हो सकता, अतएव ऐसा प्रयास व्यर्थ कालका अपव्यय होगा)। कलाकारको अपने ही धर्मका 'अंध अनुयायी' होना पड़ता है, क्योंकि उसकेलिए यह केवल विवेक—रीज़न—का प्रश्न नहीं है। यह प्रश्न है उसके समूचे व्यक्तित्व का, उसके तन और मनका, उसकी आत्माका। यही कारण है कि कलाकारों की आलोचनाएँ पक्षपातपूर्ण होती हैं, जैसाकि उनकी उक्तियोंसे स्पष्ट दीख जाता है।

हर एक कलाकार अपने निमित्तोंकी परिभाषा कर सकता है, कि वह कोई काम क्यों कररहा है। कुछ हद तक वह उन निमित्तोंका प्रतिपादन भी कर सकता है। परन्तु जिन-जिन स्थलोंपर वह वास्तविक कलाकार है, केवल कारीगर नहीं, वहाँ वह अपना वास्तविक निमित्त कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वह वास्तविक निमित्त क्या है? वह यही है कि "जो कुछ मैं कररहा हूँ वह इसीलिए कि मैं एक विशिष्ट प्रकारका व्यक्ति हूँ। मैं जो हूँ सो हूँ; और मेरेलिए ऐसा करना ही नियति है। जो मैं बनाता हूँ वही बना सकता हूँ, क्योंकि मेरा निर्माण ही उसे बनानेकेलिए हुआ था। मेरी

रचना मेरे समूचे व्यक्तित्वका अवश्यम्भावी नतीजा है।"

कलाकारका यह निमित्त हमें शायद विशेष सन्तोषप्रद न लगे। परन्तु सच सिर्फ़ यही है। इसके वास्तविक अर्थ और महत्त्वका यदि अनुभव करना चाहें तो मुकाबिलेमें कारीगरके निमित्तोंपर विचार कीजिये। कारीगर कोई प्रक्रिया करता है, इसलिए कि उसे वैसा करना सिखलाया गया है। उसका हस्तलाघव और दाक्षिण्य इसीमें है कि वह उन पूर्व-निर्धारित प्रक्रियाओंको अधिकतर सफ़ाई और झड़पसे कर सके। परन्तु यदि कारीगरमें भी कहीं कलाकारका अंश छिपा बैठा हो तो वह भी अपनी प्रक्रियाओंको करनेके नवीन और 'बेहतर' तरीक़ोंकी तलाशमें रहेगा। चाहे उन्हें बेहतर समझनेमें वह अकेला ही हो। परन्तु इस नवीनताकी खोजमें, इस गुणाधिक्यकी शोधमें, कारीगरके सबसे बलवान विरोधी होंगे उसके अपने ही भाई-बन्धु, उसीके जैसे अन्य सहचर-व्यवसायी। क्योंकि कारीगरीका सबसे बड़ा और मुख्य गुण यही है कि उसमें गतानुगतिकताकी मात्रा अत्यधिक होती है।

कलाका कोई भी सत्य, वास्तवमें कलाकारकी आत्माका सत्य है। वह सत्य जितना भी व्यापक हो उतना ही उत्कृष्ट कहा जायगा। परन्तु यह व्यापकता प्रधान वस्तु नहीं है। मुख्य बात है कलाकारकी अपने हेतु, अपने ध्येय, के प्रति सच्चाई, और उस तक पहुँचनेमें उसकी अपेक्षाकृत सफलता।

———

साहित्य और मनोविज्ञान

कलाकारमें वैज्ञानिक और दार्शनिकसे एक साम्य विशेष है। उनके ही सदृश वह मानव-जीवनके नाटकमें समभागी है; पर उन्हींके समान उसे अपने आपको पक्षपात-रहित, तटस्थ और जागरूक रखना पड़ता है। अपनी अनुभूतिको व्यक्त करते हुए उसको सत्यनिष्ठ और निर्द्वन्द्व होना पड़ता है और उस अनुभूतिको व्यक्त करने और उसकी विवृत्ति करनेमें वह सत्यका कितना आश्रय लेता है इसपर ही कलाकारके रूपमें उसकी महत्ताका मान निर्भर रहता है। पर हम जानते हैं कि अनुभूतिके निरूपणमें इस प्रकारका संयम कितना कठिन काम है। हमारा सामाजिक वातावरण तथा हमारी रूढ़िगत भाषा कलाकारको अनुभूति-निरूपणकी निश्चित पद्धतियोंसे जकड़कर इसे और भी कठिन बनादेते हैं। हमारा संस्कृत साहित्य नायक, नायिका, भाव, अनुभूति आदिकी परम्परायुक्त पद्धतियोंके उत्तराधिकारके बोझसे लदा हुआ था। योरॅपमें शेक्सपियरके समय तक साहित्य वात, पित्त, कफ़, आदि ह्यूमर्सके बन्धनमें जकड़ा हुआ था। आज दिन भी लेखक जनसाधारणमें प्रचलित अवैज्ञानिक मन्तव्योंका अनायास ही अंगीकरण और उपयोग करते हैं। यदि आधुनिक मनोविज्ञानके आविष्कारोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो इस दोषका उपचार पर्याप्त मात्रामें हो सकता है। मनोविज्ञान आज पहले पहल इस उपादेय स्थितिको प्राप्त हुआ है कि वह कलाकार और समालोचक दोनोंको ही मानव-हृदयके रहस्योंके बारेमें बहुत-कुछ बतला सके और मानव-हृदयकी जटिलताको हृदयंगम करा सके और कम-से-कम कलाकारके लिए परमावश्यक मानसिक संयमका साधन उपस्थित कर सके। अंग्रेज़ीके एक अग्रगण्य उपन्यासकार समरसेट मॉघमने अपनी आत्मकथामें बतलाया है कि विज्ञान और दर्शनके अध्ययनने उनको किस प्रकार कलाके उस दुर्लभ गुण—तटस्थता—को प्राप्त करनेमें सहायता दी है। आल्डूस हक्सले वर्तमान मनोवैज्ञानिक तथ्योंका बड़ी लगन और चावसे अध्ययन करते रहे हैं, और यही कारण है कि वे मैथ्यू आरनॅल्डके आदर्शके अनुसार जीवनके सच्चे समालोचक बननेमें सफल हुए हैं।

इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं कि मौलिक कलाकार कोई वाद विशेषको अपनाकर चले, अथवा अपनी कृतियोंको मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके वर्णनकेलिए प्रयुक्त करे। पर हम यदि उन लेखकोंके दृष्टिकोणसे देखें जोकि आधुनिक संसारकी प्रवृत्तियोंका ज्ञान प्राप्तकर जनसाधारणको शिक्षित करते हैं तो हमें यह मानना पड़ेगा कि विचार-प्रधान उपन्यासोंके लेखकके लिए अपने आपको एच. जी. वेल्स, हक्सले और एथेल मानिन इत्यादि की तरह शास्त्रीय, विशेषतः मनोवैज्ञानिक, छानबीनोंका सतर्क पाठक बनाना आवश्यक है। इनको छोड़कर यदि हम मौलिक प्रतिभाशाली कलाकारोंकी ओर ध्यान दें तोभी यह सिद्ध होजायगा कि तत्कालीन मनोवैज्ञानिक छानबीनसे उन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया था। मॉपसाँ अपनी कहानियोंमें भाव-जगत्को हर पहलूसे कभी चित्रित न कर सकता, मार्सेल प्राउस्ट संसारके सबसे बृहत् उपन्यास 'रिमेम्ब्रेन्सेज़ ऑफ़ थिंग्स पास्ट' में भावात्मक अनुभूतियों और चित्त-वृत्तियोंका इतना गहरा और सूक्ष्म विश्लेषण कभी न कर सकता, जेम्स जॉयस अपने 'युलिसीज़' में एक क्रान्तिकारी टेकनीक का प्रयोग न कर सकता, डी. एच. लॉरेन्स मानव-सम्बन्धों और विशेषकर स्त्री-पुरुषके पारस्परिक सम्बन्धके वास्तविक तत्त्व की खोजमें इतना गहरा न डूब सकता—यदि इन सभीने मनोविज्ञानसे अपने आपको भलीभाँति परिचित न करलिया होता।

फिर इतना ही नहीं। आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्रने मनुष्यकी अचेतन वृत्तियोंके बारेमें जिन रहस्यमय तत्त्वोंका पता लगाया है उनसे पाश्चात्य साहित्य-निर्माताओंका कार्यक्षेत्र भी पहलेकी अपेक्षा बहुत विस्तृत होगया है। सिग्मण्ड फ्रायड और डॉ. कार्ल जुंग आदि मनोविश्लेषकोंके आविर्भाव के पहले साहित्यकारोंका ध्यान और उनकी कृतियाँ चेतन मनकी वृत्तियोंमें ही सीमित थे। परन्तु अब वे अचेतन मनके विशाल क्षेत्रको अपनाकर कला और साहित्यको पुनर्जीवन और एक नये प्रकारकी पूर्णता देरहे हैं। उदाहरणार्थ बीसवीं शताब्दीके सर-रीयैलिज़्म अथवा अति-यथार्थवादको लेकर देखें कि किस प्रकार मनोविश्लेषण शास्त्रने कलाको एक नयी धारा प्रदान की है। हर्बर्ट रीडने 'आजकी कला' नामक पुस्तकमें इस प्रकार अतियथार्थ-वादके आदर्शोंका वर्णन किया है। इस मतका प्रमुख सिद्धान्त यह है कि सामान्य संसारकी अपेक्षा विशेष सत्ता रखनेवाला एक और संसार है और

यह अचेतन मनका जगत् है। डा० फ्रॉयड इस मतके आदि-प्रवर्तक हैं, क्योंकि वह जिस प्रकार स्वप्नव्यापारमें जीवनकी जटिल समस्याओंका समाधान पाते हैं ठीक उसी प्रकार अतियथार्थवादीको भी उसी जगत्से कलात्मक प्रेरणा मिलती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह स्वप्न-चित्रोंका चित्रणमात्र करता है, प्रत्युत उसका ध्येय ऐसे साधनोंका उपयोग करना है जिनकी पहुँच अचेतनकी दमन की हुई वृत्तियों तक हो सके और तदनन्तर वह इन तत्त्वोंका अधिक चेतन स्वप्नचित्रोंसे और कलाके सामान्य आकार आदि अवयवोंसे भी संमिश्रण करता है। अतियथार्थवाद अचेतन की कला नहीं है, वरन् जैसा कि इसका नाम सूचित करता है, यह पूर्ण मानसिक व्यक्तित्वकी कला है, उसके सभी क्षेत्रों और व्यापारोंका संयोग है।...कलाकार चाहे कवि हो, रहस्यवादी हो, अथवा चित्रकार, बुद्धिग्राह्य, तार्किक विवृत्तिके योग्य पदार्थकेलिए प्रतीकोंका आश्रय लेना उपयुक्त नहीं समझता। वह यह अनुभव करता है कि जीवन, विशेषतः मानसिक जीवन, दो स्तरोंमें रहता है: एक निर्दिष्ट, नाम-रूपसे नियमित; दूसरा, संभवतः जीवनका बृहत्तर अंश, अच्छन्न, अस्पष्ट, अनिर्दिष्ट। मानव, जलस्थ हिमशैलकी भाँति, चेतनाके स्तरमें किंचित उठा हुआ, समयके प्रवाहमें बहता रहता है। अतियथार्थवादी चित्रकार अथवा कविका लक्ष्य निजकी आच्छन्न मनोवृत्तियोंके विस्तार और लक्षणोंका थोड़ा-बहुत प्रत्यक्षीकरण करता है और इस कार्यकेलिए वह स्वप्नों और मनकी स्वप्नसम अवस्थितियोंके सार्थक कल्पना-चित्रोंका आश्रय लेता है।

पर पाश्चात्य-साहित्यमें मनोविश्लेषणका प्रभाव किसी एक मत-विशेषकी उत्पत्तिपर ही नहीं रुका है, परंच सर्वतोव्यापी होगया है। क्या उपन्यास, क्या नाटक, क्या कविता, सबमें इस शास्त्रके अन्वेषणोंकी गहरी छाप दिखलाई पड़ती है। सब साहित्यिक कृतियोंमें निरालोक अन्तर्जगत की गोताखोरी, मानव-हृदयमें स्वर्ग और नरकके समान विरुद्ध भावनाओं का चित्रण, पात्रोंके चरित्र विश्लेषणमें अभूतपूर्व सूक्ष्मता, काम-वासना-मूलक वृत्तियोंकी निर्भीक स्वीकृति जो देखी जाती है, यह मनोविज्ञानकी ही देन है। अपरञ्च अचेतन मनके अस्तित्व और उसके चेतन वृत्तियोंपर अनिवार्य और सर्वव्यापी प्रभावकी स्वीकृतिने पाश्चात्य साहित्यमें क्लैसिकिज़्म और रोमैण्टिसिज़्म, रियैलिज़्म और एस्केपिज़्म—आशावाद और निराशावाद,

बुद्धिवाद और अबुद्धिवाद—इत्यादि परस्पर-विरोधी वादोंके झगड़ेको तुच्छ और अनावश्यक बना दिया है। बुद्धिवाद और अबुद्धिवादको ही लेलीजिये। मनोवैज्ञानिक भाषामें बुद्धिवादका अर्थ है चेतन अहम्—जोकि हमारे व्यक्तित्वका बहुत छोटा हिस्सा है—की वृत्तियों द्वारा ही कीहुई अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्की अनुभूतिको स्वीकार करना; इन्हीं अनुभूतियोंका कलात्मक अभिव्यंजन करना; सत्य, शिव, और सुन्दरको इसी छोटेसे दायरेमें बाँध देना; और इस प्रकार बुद्धिको जीवन रथके अश्वोंकी बागडोर ही नहीं बल्कि स्वयं अश्व ही मान बैठना। पर आधुनिक मनोविज्ञानने प्रमाणित किया है कि मानव-जीवनके स्रोत बुद्धिसे परे हैं और अचेतनकी उस कामशक्तिसे प्रवाहित होते हैं, जिसका बुद्धि एक व्यावहारिक उपकरण-मात्र है। पर, जैसा एक लेखकका कथन है, यदि हम बुद्धिको असीम बनादें, अचेतन मन के अनियन्त्रित इन्द्रजालको अहम् में मिलालें और यह समझलें कि मनका बृहत्तर संसार बुद्धि के विधान और नियमोंसे बँधा हुआ नहीं है तो फिर बुद्धिवाद और अबुद्धिवादमें क्या झगड़ा रह जायगा? अचेतनकी वासनायें नारकीय विभीषिका भलेही हों, पर हैं सत्य। चेतन 'अहम्' में संगठनका प्रयत्न और ज्ञानकी ओर उन्मुखता, यह भी सत्य है। प्रकाशमें सत्य है, अंधकारमें भी सत्य है। फिर कलाकार क्यों नहीं महर्षि नारदकी तरह तीनों लोकोंमें विचरण करे और मनुष्यकी अनुभूतिमें सामंजस्य और जीवन-यात्रामें कल्याण उपस्थित करे? विद्याकी पाश्चात्यदेवी मिनर्वा का वाहन उल्लू है जो कि अंधकारमें देख सकता है; और जैसा हेगेल ने कहा है मिनर्वाका उल्लू तभी अपनी उड़ानको निकलता है जब आकाश अंधकारसे अच्छादित होने लगता। अस्तु।

स्वीज़रलैण्डके मनोवैज्ञानिक डॉक्टर कार्ल जुंगकी छानबीनोंका प्रभाव भी पाश्चात्य साहित्यपर पड़ने लगा है। इनकी यह धारणा है कि मनुष्य-मात्र प्रकृतिके अनुसार दो श्रेणियोंमें विभाजित किये जा सकते हैं: इन्ट्रोवर्ट और एक्स्ट्रोवर्ट, अर्थात् अन्तर्मुख और बहिर्मुख। फिर इनमें से प्रत्येक, मनकी क्रियाके प्राधान्यके अनुसार अन्तर्ज्ञान-शील (इन्ट्वीटिव टाइप), विचारशील (थिंकिंग टाइप), भावनाशील (फ़ीलिंग टाइप) और प्रवृत्तिशील (इन्स्टिंक्टिव टाइप) हो सकता है। इस प्रकार मनुष्यमें आठ प्रकारके मुख्य प्रकृति-भेद पाये जाते हैं। उपन्यास-रचयिता और

नाटककारको मनुष्य-प्रकृतिके चित्रणसे ही विशेष सम्बन्ध रहता है और उनके लिए डॉ. जुंगके तथा चरित्र - विज्ञानमें किये हुये कतिपय और सिद्धान्त ? बहुत कामकी वस्तु बन गये हैं। इससे भी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त डॉ० जुंग ने अचेतनके स्वरूपके विषयमें प्रतिपादित किये हैं। उनके मतानुसार अचेतनकी दो तहें हैं। इनमेंसे ऊपरवाली वैयक्तिक अचेतन है जिसमें हमारे बाल्यकालमें दमनकी हुई मनोवृत्तियाँ रहती हैं। वैयक्तिक अचेतनसे भी गहरी तह वह है जिसे सामूहिक अचेतन कहते हैं, जिसमें वे पुरातन अनुभूतियाँ दबी हुई हैं जो मनुष्य जातिके बाल्यकालमें सभ्यताकी उत्पत्तिसे पहिले हुई थीं। इन वृत्तियोंको डॉ. जुंग सामूहिक अचेतनके 'आर्की टाइप्स' अथवा तत्त्व कहते हैं। इन तत्त्वोंको पुरातन मनुष्य प्रकृतिपर 'प्रोजेक्ट' अर्थात् बहिश्चित्रित करता था और नक्षत्रोंमें, आकाशमें, गिरि - कन्दराओं में, पत्थरके टुकड़ोंमें, समुद्रमें, वायुमें, देवी, देवता और दानवको देखता था। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, अप्सरा और पिशाचको विश्वमें विचरण करते हुए देखता था। साहित्यमें, कवितामें, कलामें, मनुष्यके जोवन - नाट्यमें, इनको भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता था। जब - जब मनुष्य अपने चेतन अहम्को ही सार तत्त्व समझने लगा, तब - तब ये शक्ति - तत्त्व बहिर्जगत् से अर्थात् चेतनाके जगत्से लुप्त होने लगे। फिर नये प्रतीकोंमें इनका आह्वान हुआ और फिर चेतन बुद्धिके विस्तारसे इनका लोप हुआ। पर इनका अस्तित्व नहीं मिट सकता, ये हमारे मनकी जिस तहसे उत्पन्न हुए थे उसीमें अन्तर्लिप्त होगये, यहाँ तक कि १९ वीं शताब्दीका अन्त होते - होते लोग यह बिलकुल भूलगये कि इन शताब्दियोंका हमारे अन्तस्तलमें कभी वास था। कवि और कलाकारकी मौलिक, अनायास कृतियाँ स्वभावतः पौराणिकी होती थीं। पाश्चात्य देशोंमें होमर, दान्ते, गेटेकी कृतियाँ, मिल्टन और ब्लेककी कविता, इब्सेन और मेटर्लिन्क के नाटक, और लॉरेन्सकी रचनाएँ प्रतीक - चित्रोंसे भरपूर हैं। हमारे यहाँ वेद, पुराण, महाभारत रामायण, तंत्र, आगम, कथा, आख्यायिका और काव्य प्रतीकमय रचनाएँ हैं। प्रतीक शास्त्रका निर्माण आधुनिक मनोविज्ञानकी सबसे बड़ी खोज है। पाश्चात्य साहित्य और कलापर इसका प्रभाव धीरे - धीरे पड़ने लगा है और वे इस निश्चयपर आने लगे हैं कि इन तत्त्वोंको समझनेसे ही पाश्चात्य सभ्यताका उद्धार होसकता है, साहित्य

और कला द्वारा इन तत्वोंका प्रतीकमय चित्रण ही प्रगतिका एकमात्र मार्ग रहगया है। जिस साहित्यिक सम्पत्तिको हम भारतीय तुच्छ समझकर खो बैठे हैं, उसे वह अमूल्य रत्नाकर समझरहे हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य निर्माता और समालोचक मानदण्डोंका अनुसन्धान करते समय, काव्य-मूल्योंकी छानबीन करते समय, साहित्यके इस पहलूको दृष्टिपथसे लुप्त न होने दें और अपनी प्राचीन सम्पदाको आधुनिक साहित्यिक प्रगतिकेलिए निर्मूल न समझलें यही मेरा इन पंक्तियोंसे अभिप्राय है।

एक अन्य प्रकारसे भी आधुनिक मनोविज्ञानने पाश्चात्य साहित्यपर कामवृत्तियोंका प्रकाश डाला है। हैवलॉक एलिस, डॉ. जुंग और उनके अनुयायियोंने हमारी कामबृत्तियोंका खुल्लमखुल्ला विस्तृत विश्लेषण कर पाश्चात्य संसारके दमनशील चेतन अहम् पर बहुत बड़ा धक्का लगाया। पर धीरे-धीरे लोगोंके मनसे यह कामवासना विषयक 'चुप-चुप' नीति हटने लगी और उपन्यास, कविता और नाटकमें धीरे-धीरे एक नयी स्पष्टवादिता और यथार्थता आने लगी। आल्डूस हक्सले, जेम्स जॉयस और डी. एच. लॉरेन्स आदिने अपने उपन्यास और कवितामें निर्भीक कामात्मक अनुभूतियोंका वर्णन किया। इतना ही नहीं, पिछले चालीस वर्षोंमें विकृत कामवृत्तियोंपर मनोविज्ञानने बहुत प्रकाश डाला है जिसके फलस्वरूप साहित्यमें बहुत-सी ऐसी अनुभूतियोंके कलात्मक वर्णनको स्थान मिला है जो साधारणतया जघन्य समझी जाती थीं। ऐसी कृतियोंके सुप्रसिद्ध उदाहरण हैं श्रीमति रैडक्लिफ़ हॉलका 'वल ऑव लोन्लीनेस' अथवा टॉमस मैनकी कुछ कहानियाँ। प्रगतिशील साहित्यिकोंको इस आधुनिक मनोवैज्ञानिक कामशास्त्रसे बहुत-कुछ मिल सकता है। हमारे पूर्वजोंमें सभ्यता भरपूर मात्रामें थी। पर वे पाश्चात्य विक्टोरियन मॉरैलिटीकी दमन-नीतिमें जकड़े हुए नहीं थे। और इनमेंसे कौन ऐसा साहित्यकार होगा जिसने कामसूत्रका अध्ययन करनेके पहिले काव्य लिखनेका दुःसाहस किया हो।

मनोवैज्ञानिक अन्वेषणोंका प्रभाव पाश्चात्य उपन्यास और कवितापर भी पर्याप्त-मात्रामें पड़ा है, जैसाकि टी.एस.इलियट, एज़रा पाउण्ड, इत्यादि की कविताओंसे और जेम्स जॉयस, वर्जिनिया वुल्फ़, डॉरॅथी रिचर्डसन् आदि के उपन्याससे स्पष्ट है। इन कृतियोंमें पात्रोंके अनुभवों, उनकी चित्त-वृत्तियों और मानसिक जीवनका वर्णन इन लेखकोंने ऐसी शैलीमें किया है कि जिससे

पाठकोंको मनोवृत्तियोंके अनियन्त्रित प्रवाहका भान हो। यहाँ तक कि जॉयसने अपने 'यूलिसीज़' के अन्तिम भागमें व्याकरण, विराम, अर्धविराम आदि प्रतिबन्धोंसे मुक्त होकर अर्धनिद्रित नायिकाके स्वगत-विचारोंका बहुतही चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है। साधारण अनुभवकी बात है कि हमारे स्वप्न निद्रावस्थामें स्वयं अचेतनकी स्वायत्तशक्तिसे निर्मित होकर चेतन मनमें बने-बनाये रूपमें उपस्थित होजाते हैं। इसी प्रकार कलात्मक काल्पनिक सृजनका मूल-उद्‌भूति-स्थान अचेतन मन है। और जब चेतन अहम्‌की काट-छाँट और नियन्त्रणके बिना ही इन कृतियोंको शब्द-जालमें बाँधा जाता है तो वे हमारे बुद्धि-प्रवर्तित चेतनको अस्पष्ट और दुरूह प्रतीत होती हैं। पर हम स्वप्नके टेकनीकको ध्यानमें रखते हुए और मनोविश्लेषण द्वारा आविष्कृत स्वप्न-विवृत्तिकी विचार-परम्परा-विधि—फ्री ऐसोसियेशन मेथड—से परिचित होकर इन कृतियोंको पढ़ें तो सम्भव है कि वे हमें इतनी अर्थहीन और उद्दण्ड न प्रतीत हों।

समालोचकका एक आवश्यक कर्त्तव्य होता है अपने पुराने साहित्यकारोंका मूल्याङ्कन। प्रतिभाशाली काव्य-स्रष्टाओंका हरेक युगके लिए भिन्न सन्देश और नूतन महत्त्व होता है। शेक्सपियर सदा सर्वमान्य रहा, पर आधुनिक कालकेलिए उसकी महत्ता किस प्रकारकी है और वह बीसवीं शताब्दीकी संस्कृतिमें कहाँ और कैसा स्थान रखता है इसपर विचार करना पाश्चात्य समालोचक अपना कर्त्तव्य समझते हैं। हम भी नयी मनोवैज्ञानिक स्थापनाओंकी सहायतासे यदि पुराने साहित्य-ग्रन्थोंका पुनरालोचन करें तो सम्भव है कि हमारा बदला हुआ आधुनिक दृष्टिकोण पुरानी और नयी भावधारा और अनुभूति जगत्‌में जो महान् विच्छेद उपस्थित होगया है उसको जोड़ सके और हमारी वर्तमान उच्छृंखल संस्कृति को भूतकालसे शृंखलाबद्ध करदे। और यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इस प्रयत्नमें मनोविज्ञान समालोचकको आवश्यक शस्त्रोंसे सुसज्जित कर सकता है। उदाहरणार्थ शेक्सपियरके समालोचकोंने पिछले वर्षोंमें उसके कल्पना-चित्रों और रूपकोंके अध्ययनकी तरफ़ विशेष ध्यान देकर; दान्तेके समालोचकों ने उसकी 'डिवाइन कॉमेडी' की ओर और डॉ. जुंगने उपनिषदों के प्रतीक चित्रोंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर इन काव्योंके अनुभूति जगत् में प्रवेश करनेकी चेष्टा की है।

फिर समालोचकका यह भी कर्त्तव्य है कि वह साहित्यिक कृतियोंकी विवृत्ति करे और जनताकी साहित्यिक अभिरुचिको सुसंस्कृत करे। कविकी कलात्मक अनुभूति बहुधा स्वायत्त काल्पनिक चित्रोंकी श्रृंखलामें 'ऑटॉ-नॅमस इमेजेज' में व्यंजित होती है। और बहुधा इस अनुभूति और इन चित्रोंका वह स्वयं अर्थ-विवेचन नहीं कर सकता। इसीलिए डी० एच० लॉरेन्स ने कहा है, "कलाकारपर कभी विश्वास मत करो। उसकी कहानीपर, अनुभूति-चित्रपर विश्वास करो। समालोचकका सही कर्त्तव्य उस अनुभूति-चित्रको उसके स्रष्टासे बचाना है।" इस कर्तव्यमें भी समालोचकों को मनोविज्ञानसे बहुत सहायता मिली है। इसके उदाहरण हैं—लॉरेन्सका 'टॉमस हार्डी' और मिड्लटनमरी की ब्लेक-लॉरेन्स इत्यादिपर पुस्तकें। फिर स्वप्न-क्रियाके जिन सिद्धान्तोंका मनोविश्लेषणने आविष्कार किया है वे साहित्यिक कृतियोंमें लागू होते हैं, और वे भी हमें इन कृतियों के गूढ़ रहस्यको समझनेमें सहायता दे सकते हैं।

महान् कलाकारोंके व्यक्तित्व और उनके आन्तरिक जीवनको समझनेके आवश्यक कार्यमें भी मनोविज्ञानने समालोचकको पर्याप्त सहायता दी है। सर्वप्रथम डॉ. फ्रायडने योरॅपके सुप्रसिद्ध कलाकार लिओनार्डो द विन्सीपर एक पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने द विन्सी द्वारा उल्लिखित एक छोटे-से स्वप्नका विश्लेषण करके इस महान् व्यक्तिके रहस्यमय जीवन पर और उनकी कलापर बहुत प्रकाश डाला। तबसे योरॅपके गेटे, नीत्शे, स्विन्बर्न आदि कई सुप्रसिद्ध कलाकारोंके जीवन-चरित्रपर मनोवैज्ञानिक निबन्ध लिखे जाचुके हैं, जिनसे हमें उनके जीवन और कलाके पारस्परिक सम्बन्ध समझनेमें बड़ी सुगमता होगई है। अंग्रेज़ी समालोचकोंमें मनोवैज्ञानिक समालोचनाके प्रमुख लेखक हैं हर्बर्ट रीड, जिन्होंने शेली और वर्ड्सवर्थपर इस ढङ्गकी पुस्तकें लिखी हैं। मनोवैज्ञानिक समालोचनाका महत्त्व बतलाते हुए आप लिखते हैं, "मैं धीरे-धीरे मनोवैज्ञानिक ढङ्गकी समालोचनाकी तरफ़ इसलिए झुकता आरहा हूँ कि मुझे यह विश्वास होगया है कि मनोविज्ञान और विशेषकर मनोविश्लेषण ऐसी बहुत-सी समस्याओंको हल कर सकता है जोकि कविके व्यक्तित्व, कविताकी टेकनीक और कविताके बोधसे सम्बन्ध रखती हैं......मैं मनोवैज्ञानिक विधिको ही समालोचनाकी एकमात्र विधि नहीं बनादेना चाहता। मैं केवल उसकी

सम्बद्धता दिखला देना चाहता हूँ, और सूचित करना चाहता हूँ कि उस केअनुसरणसे हमारे समालोचनात्मक निश्चयोंका फिरसे संशोधन किया जाय।

अन्तमें हर्बर्ट रीडके ही शब्दोंमें कहूँगा कि आधुनिक संसारकी व्यथित अवस्था हमारी अशान्त क्षुधाकी व्यंजक है। सामूहिक चित्तकी अस्पष्ट तृष्णाओंको केन्द्रित करनेकेलिए हमें एकमतकी आवश्यकता है। क्या मनोवैज्ञानिक इस समस्याको हल करनेकेलिए समालोचकको सहयोग देंगे?

कला समीक्षाकी कुछ समस्याएँ

उक्ति प्रसिद्ध है—'निरंकुशः कवयः' । 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि'; यानी कवि सदा अँधेरेमें रहता है या किसी काल्पनिक चन्द्र-प्रकाशमें साँस लिया करता है, यह बात नहीं । परन्तु तुलसीदास यह भी कहगये हैं—

तैसइ सुकवि - कवित बुध कहहीं
उपजहिं अनत, अनत छवि लहहीं

कवि-मानस कल्पनाप्रधान होकर, स्वतन्त्र विचरण करनेपर भी एक विशेष मर्यादा तक ही उस स्वातंत्र्यका उपभोग कर सकता है । कोई कवि समझबूझकर यह आग्रह नहीं कर सकता कि मेरी लिखी हुई अर्थशून्य पंक्तियोंको पाठकोंने कविता मानना ही चाहिए । अतः प्रश्न वहाँ उपस्थित होता है जहाँ कवि या स्रष्टा तो कहता हो कि मेरी रचना अर्थवती है, वह जीवनके संस्पर्शसे उपजी और सचमुच कलाकृति है; परन्तु पाठक कहते हों—यह रचना तो हमारी समझमें नहीं आती, इसमें तो कोई यथार्थता है ही नहीं, अतः यह कलाकृति ही नहीं । हिंदीमें अक्सर निरालाजीकी कविताएँ पढ़ते समय और प्रसादजीकी कामायनी और महादेवीजीकी कई संमिश्र उत्प्रेक्षाओंको पढ़ते समय यह समस्या दरपेश रहती है । ऐसे समय दुर्बोध और सुबोध कविता या कलाकृतिके बीच अच्छी-बुरी रचनाका तारतम्य किसपर छोड़ा जाय ? समालोचक नामक तृतीय पुरुषको पंच मानकर फ़ैसला करना भी कहीं-कहीं घातक होजाता है—जबकि हमारे मान्य आलोचक-प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल तक, चौबीसवें हिंदी - साहित्य - सम्मेलन, इन्दौरके अपने साहित्य-परिषद्के अभिभाषणमें कहगये हैं कि "इधर हमारी हिंदीमें भी काव्य - समीक्षाके प्रसङ्गमें 'कला' शब्दकी बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है । मेरे देखनेमें तो हमारे काव्य - समीक्षा क्षेत्रसे जितनी जल्दी यह शब्द निकले उतनाही अच्छा । इसका जड़ पकड़ना ठीक नहीं।" और "मैं फिर ज़ोरके साथ मानता हूँ कि यदि काव्यके प्रकृत

स्वरूपकी रक्षा इष्ट है तो उसका 'पीछा' इस 'कला' शब्दसे जहाँतक शीघ्र छुड़ाया जाय अच्छा"। यह मैं मानता हूँ कि सब दुर्बोध कविता एकदम नवीन होनेके कारण अच्छी ही या बुरी ही नहीं होती; उसी प्रकार मेरा विश्वास है कि सुबोध कविता भी सब अच्छी ही होगी यह आवश्यक नहीं है। इसीलिए समालोचकोंके भरोसे रहना 'नीम-हकीम खतरे जान' होजाता है। जिस प्रकार दो ज्योतिषी एकही व्यक्तिके सम्बन्धमें दो परस्पर-विरोधी भविष्य बताते हैं, वैसेही एकही रचनाकी दो परस्पर- विरोधी निष्पक्ष आलोचनाएँ हो सकती हैं। अतः समालोचकोंको तो उन ज्योतिषियोंकी कक्षामेंसे एक मानना चाहिए, जो निकटतम जीवित व्यक्तियोंके परिणामकी तो बात छोड़देते हैं और दूरस्थित ग्रह - पिंडों और अशनि खण्डों 'नेब्युले' की गतिका मानवी नियतिपर जो परिणाम हो उसकी खोज किया करते हैं। गस्टॉव फ़्लाबर्टने जॉर्ज सैण्डको एक पत्रमें, जो २ फ़रवरी १८७६,ई० को लिखा गया था, कहा है—"प्राचीन आलोचक एक प्रकारका वैयाकरणी होता था; वर्तमान आलोचक इतिहासकार है यथा संतबॉव या मॉंशिया टेन; अभीभी हम उस भविष्यत्की ओर आशासे ध्यान लगाये बैठे हैं जब आलोचक स्वयम् कलाकार होगा और जब आलोचना रचनात्मक साहित्य का एक अङ्ग होगी।"

कवि निरंकुश चाहे लोगोंकी दृष्टिसे हों; परन्तु उसे अंकुश उसकी अपनी मानसिक दशा तथा संस्कारोंका है; साथही देश-काल-परिस्थितिका भी प्रभाव भुलाया नहीं जासकता। यानी यदि समालोचनाको शास्त्रीय युगके वैज्ञानिक दृष्टिकोणके साथ चलना है, तो उसे समाजशास्त्र तथा मानसशास्त्र इन दो महत्त्वपूर्ण शास्त्रोंसे दृष्टि प्राप्त करना ही चाहिए। समाजविज्ञानके अन्तर्गत राजनीति, अर्थशास्त्र, नृ-विकास-विज्ञान और प्राणीशास्त्रका समावेश होता है—तो मनोविज्ञानकी सहायतासे कवि अथवा कलाकारके आन्तरिक मनोविकारोंका, चेतन और अर्धचेतन मनोवृत्तियोंका विश्लेषण हमें मिल सकता है। पश्चिमी दर्शनशास्त्रके एक विद्यार्थी के नाते मैं कला-समीक्षाके विषयमें समालोचक, कलाकार और रसिक दर्शक या श्रोताके दृष्टिकोणसे कुछ विचार विचारार्थ प्रस्तुत करना चाहता हूँ। ये विचार प्रश्नरूप हैं। हलके सम्बन्धमें सुझाव अथवा अधिकार-वाणीसे निर्णय तो मैं इस निबंध के विवेकशील पाठकपर छोड़ना चाहता हूँ। साथही मैं जब वैज्ञानिक दृष्टि-

कोण, और समाजका और व्यक्तिका मनोविश्लेषण करनेवाली दो भिन्न विज्ञान-पद्धतियोंका उल्लेख करता हूँ, तब आप कदापि यह ग़लतफ़हमी न करले कि विज्ञान विचार - प्रधान होकर भी कलात्मक भावपक्षको कभी भुला नहीं सकता। न दोनोंमें कोई विरोध ही मैं पाता हूँ। कॉलरिजने ठीकही कहा था कि "गहरी भावनाओंमेंसे ही गहरा चित्रण निर्माण होता है"। साथही मुझे इसका भी पूरा खयाल है कि समाजविज्ञान और मनो-विज्ञान दोनों प्रयोगावस्थामें, अतएव अनिर्णीत, विज्ञान हैं। उनके निष्कर्ष हम अन्तिम मानें ऐसी कोई बाध्यता नहीं है। उनकी पद्धतिका अवलम्बन हमें कला-निर्माण और कला-हेतु समझनेमें लाभदायक होसकता है। समाज और व्यक्ति, समुद्र और लहरीकी नाईं एक-दूसरेमें घुले-मिले हैं। उनमें प्रती-त्यसमुत्पाद' हम बुद्धिसे क्यों निर्माण करे ? अतः जो सामाजिक वृत्तियाँ हैं, उनसे वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ भिन्न नहीं की जासकतीं। और जो बात वृत्तियोंकी—इन्स्टिंक्ट्सकी—है वही बुद्धिकी—इन्टेलिजेन्सकी—भी है। सामाजिक तथा वैयक्तिक जीव-विकास—ऑर्गैनिज़्म्स—के प्राण एक ही हैं, रूप-मात्र भिन्न हैं। कलाके रूप और स्वरूपकी चर्चा आगे होगी ही।

यह ग़लतफ़हमी दूर करनेका कारण है हमारे समीक्षा-क्षेत्रमें फैली हुई भ्रान्त धारणाएँ। योरॅप तकमें एकाङ्गी और एकान्तिक सिद्धान्तोंके कारण समीक्षामें कैसा निरर्थक वितण्डावाद खड़ा हुआ था इसका अन्दाज़ा हमें एक वाक्यसे होसकेगा। यह वाक्य छटी अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन-परिषद् १९२६ के सौंदर्य-विज्ञान-विभागमें पढ़ेगये मिस्टर पार्करके एक निबन्धके अन्तिम अंशमें हैं। वे कहते हैं:—"इच्छापरिपूर्ति और स्वयंप्रेरित-ज्ञान यह दोनों एक-दूसरे से विभिन्न मूल्य नहीं हैं; कलामें दोनों साथ-ही-साथ रहते हैं, योरॅपीय सौंदर्य-विज्ञानकी समीक्षा-पद्धतिका, जिसमें क्रोचे भी आजाते हैं, यह प्रमुख दोष रहा है कि वह सदा एक या दूसरे पक्षकी उपेक्षा करता रहा है। क्रोचेने स्वयंप्रेरित-ज्ञानके आग्रहमें भावपक्षको बिल्कुल भुला दिया, तो फ्रायड और दूसरे संवेदनवादी भावपक्षके विचारकोंने क्रोचेके मतकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। हमें तो अगर पूछाजाय कि दोनोंमें तुम्हें क्या चाहिये तो प्लेटोके शब्दोंमें हम बच्चोंके समान कहेंगे—हमें दोनों दो।"

वास्तवमें शॉपनहॉर-नीत्शेकी जो अन्ध-उर-स्फूर्ति [ब्लाइण्ड विल] वाली तत्वधारा योरॅपमें चली उसीकी प्रतिक्रियामें नव्य-आदर्शवादी, यथा

बर्गसाँ या क्रोचे, खड़े हुए—जैसे प्रथम पक्ष हेगेल-फ़िख्टेके अतिवादी अध्यात्मकी प्रतिक्रियामें था। इस निबन्धको मैं कलासमीक्षाकी सुविधाकेलिए—उसकी आदर्शवादी दार्शनिक परम्परा; मनोवैज्ञानिकोंकी ओरसे आनेवाले आक्षेप और सूचनाएँ; और अन्तमें, स्वयं कलाकारको क्या कहना है—इन तीन भागोंमें बाँटना चाहता हूँ।

(२)

कलासमीक्षाकी आदर्शवादी दार्शनिक परम्परामें कैण्ट, हेगेल, क्रोचे, ब्रैड्ले, बोज़ांके और जॉन ड्यूई आदि प्रमुख नाम सामने आते हैं। कॉलिंगवुडके एक लेखका एक अवतरण भी संदर्भमें आयेगा।

कैण्टके मतसे रूप-सौंदर्य न तो अनुकरणसे आसकता है, न वह कुछ सिखाता है, न वह कोई इच्छापूर्ति करता है या नैतिक सिद्धान्त-विशेष का अनुमोदन करता है। सौंदर्य - ग्रहणमें हमारा भाव-पक्ष एक प्रकारकी लयमय क्रीड़ामें रममाण होजाता है; जो क्रीड़ा किसी सिद्धान्तसे परिचालित नहीं होती। वह तो स्वान्तः सुखाय होती है। यह लयमय क्रीड़ा, हम सतत चाहते हैं कि केवल हमारी ही न रहकर सबकी होजाय। अतः सौंदर्यका मूल्य-निर्धारण एक ही बात करसकती है कि वह सौन्दर्य सबकेलिए सौन्दर्य हो। आगे चलकर कैण्ट दो तरहके सौंदर्य मानता है—एक तो मुक्त या स्वतन्त्र सौंदर्य, दूसरा आबद्ध या परावलंबी सौन्दर्य। इस दूसरे प्रकारके अन्तर्गत, किसी सिद्धान्त-विशेषकी तृप्तिकी खातिर की जानेवाली रचना—चाहे वह सिद्धान्त मार्क्स-प्रणीत हो या गान्धी-प्रणीत—और अच्छे अनुकरण या अनुवादवाली रचनाका समावेश होता है। पहिला सौन्दर्य मौलिक कला और युग-युगव्यापी साहित्यमें अन्तर्हित है तो दूसरा सौन्दर्य फ़ोटोग्राफ़िक या निरी हू - ब - हू चित्रणवाली कलामें और युग-सीमित साहित्यमें रहता है। कैण्ट 'सुन्दर' और 'भव्य' या उदात्तके बीचमें एक भेद पाता है। भावपक्ष जिसमें प्रधान हो वह सुन्दर; बुद्धिपक्ष जिसमें प्रधान हो वह भव्य। अतः सुन्दर है आत्मनिष्ठ, और भव्य निःस्व। यह भेद यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ठीक नहीं। आगे चलकर उदात्त या भव्यके भी कैण्ट दो प्रकार बतलाता है—एक तो स्थितिमय भव्यता, दूसरी गति-

मय। यह गतिमय भव्यता ही थी जो आगे हेगेलको अपने सौन्दर्य-सिद्धान्तों में सहायक जान पड़ी।

हेगेलने 'ललित कलाओंका दर्शन' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। अंग्रेज़ी अनुवाद उपलब्ध है जो ऑस्मॅस्टन द्वारा हुआ है। उसमें वह कला-सम्बन्धी दो प्रश्नोंको लेकर चलता है, जिनके उत्तर वह नकारात्मक देता है। वे प्रश्न यों हैं :—

(१) क्या कला वैज्ञानिक समीक्षाके योग्य नहीं ? और

(२) क्या कलाका दार्शनिक विश्लेषण भी संभव नहीं ?

आगे चलकर वह सौन्दर्य और कला-सम्बन्धी विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियोंका—यानी अनुभव-जन्य प्रत्यक्ष; आनुमानिक अप्रत्यक्ष; काल्पनिक विचारात्मक [एम्पीरिकल, ऐब्सट्रैक्ट रीफ़्लेक्शन, नोशनल कॅन्सेप्ट ऑव ब्यूटी]—उल्लेख कर निम्न निष्कर्षोंपर पहुँचता है:—

(१) कलाकृति प्राकृतिक नहीं है। वह मनुष्य द्वारा मूर्त होती है। प्रकृति उसकी भित्ति चाहे हो।

(२) मनुष्य द्वारा निर्मित होनेपर वह मनुष्यकेलिए ही निर्मित होती है।

(३) कम-अधिक प्रमाणमें वह इन्द्रियगोचर माध्यममें, इन्द्रिय-गोचर होनेकेलिए ही निर्मित होती है।

(४) कलाकी सीमा स्वयं उसका उद्देश्य है। वह निरुद्देश्य नहीं होसकती।

इस प्रकार हेगेलके साथ कला-समीक्षा-क्षेत्रमें कैंटका भाव-पक्ष और बोध-पक्षमें निर्मित भेद कम होता है और कलाको आदर्शके साथ जोड़नेका यत्न आरम्भ होता है। कला अनुकरण नहीं है, वह आदर्श-विशिष्ट की अनुगत मानवी क्रिया है, यह धारणा हेगेलसे आरम्भ होजाती है।

हेगेलके बाद इसी विचारको नव्य-आदर्शवादी इटलीके सौन्दर्य-वैज्ञानिक बेनेडेट्टो क्रोचे अपने 'एस्थेटिक' में अधिक सुस्पष्ट करते हैं और कलामें आन्तरिक 'अनुभव'— शाङ्करदर्शनमें 'इन्ट्वीशन' केलिए यही शब्द प्रयुक्त है—की प्रधानता बताते हुए कलामें उस अभिव्यंजनावादकी

परिपुष्टि करते हैं, जिसपर नाना प्रकारके प्रहार और आक्षेप हुए। क्रोचे मानव जातिमें अभिव्यक्तिकेलिए आतुर होनेवाली एक वृत्ति (अर्ज टु एक्सप्रेस) समस्त मानवी क्रियाओंके मूलमें मानते हैं। और इस वृत्तिको वे तर्कातीत समझते हैं। उनके मतसे यह अनुभूति-क्षण कला-क्षण है और वह तर्क-क्षणसे भिन्न। तर्क-वृत्ति मनुष्यमें बादमें जागती है। व्यक्त करनेकी वृत्ति तो जन्मजात है। यह वृत्ति ऐसी है कि इसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति एकप्राण हैं; वे भिन्न नहीं। यह अनुभव रहस्यवादियोंवाला निरा साक्षात्कार नहीं है, और न बर्तावादियोंका रीति-चमत्कार। यह अनुभव चैतन्य है; वह अन्ध और अचेतन नहीं है। इस अनुभवकी भित्ति हमारी संवेदनाएँ संमिश्र और निरन्तर-परिवर्तनशील चाहे हों, अनुभव अनिश्चित नहीं होता। पुरानी अभिव्यंजनाको नयी अभिव्यंजनामें परिणत होनेसे पहिले इसी संवेदनाकी अवस्थामें से गुज़रना होता है। अतः केवल संवेदना यह अनुभव नहीं है। उदाहरणकेलिए क्रोचे कहते हैं कि हम समझते हैं कि सुन्दर चित्रसे हमें केवल आँखको सुख मिलता है। यह ग़लत है कि केवल आँख ही एक समय श्रम करती रहे। हमारा सुख या दुख प्रतिक्षण हमारे पूरे चैतन्य व्यक्तित्वसे, उसके संस्कार और आदतोंसे जुड़ा हुआ है। अतः हम चित्रित फलमें भी ताज़गी और माधुर्यकी परिकल्पना व्यक्त करते हैं; संगीतमें भी दर्द और रुसवाकी बात करते हैं; और कवितामें भी 'चित्र-राग'का अनुभव करते हैं। कलामें पलायन न होकर एक प्रकारकी परितृप्ति होती है; चूँकि कलाकारका 'कु'-मन जो इतने समयतक क्रिया-हीन था वह सक्रिय बनकर एक प्रकारकी आत्मशुद्धि और स्वतंत्रता प्राप्त करलेता है। इस प्रकार कलाकारोंमें अत्यधिक वासनाएँ और अत्यधिक गाम्भीर्य, विकार और विचारोंकी एक साथ तीक्ष्णता पायी जाती है। जो अत्यधिक गतिमें है वह स्थिर जान पड़ता है; जो मौन है वह अत्यधिक मुखरताका प्रमाण है। मैं आगे चलकर बताऊँगा कि क्रोचेके साथ हिन्दी में अन्याय हुआ है।

बर्गसाँने इसी अभिव्यक्तिकी उत्कण्ठाका समाधान अपनी 'जीवन-शक्ति' के सिद्धान्तसे किया। उनके 'हास्य' नामक निबन्धमें वे बालकोंका हँसना उतनाही स्वाभाविक मानते हैं, जितना वृक्षके फूलोंका फूलना। बर्गसाँके साथ सौन्दर्यदर्शन और प्राणीशास्त्रका समन्वय हमें प्राप्त होता है।

एफ़० एच० ब्रैड्लेके निबन्धसंग्रहमें पृष्ठ ६१८ से ६२७ पर साहित्य में यौन विवरणको किस तरह लिया जाय इस प्रकरणमें सौन्दर्य - विज्ञान-सम्बन्धी एक और आदर्शवादी सिद्धान्त मिलता है, जो केवल पावनताके लिए पावनता चाहनेवाले पाक - परस्तों (प्यूरिटन्स) से भिन्न प्रकारका है। 'सौन्दर्य वैयक्तिक संवेदनासे सदा ऊपर और अलग रहता है। सौन्दर्य मेरे अस्तित्वकी शर्त बनकर नहीं रहता सौन्दर्य वस्तुगत है। अतः व्यक्तिको अवकाश नहीं है कि वह वस्तुओंको अपने विकारोंमें लिपटा हुआ ग्रहण करे। यह तटस्थता प्रत्येक कलाकारकेलिए आवश्यक है। चूँकि कला स्वरत्यात्मक [सेल्फ़ इण्डलजेण्ट] नहीं है। इस तटस्थता या अनासक्तिसे एक प्रकारकी रसदशा निर्माण होती हैं, जो सच्ची साहित्यिक स्वतन्त्रताके मूलमें रहनी चाहिए।

ब्रैडलेके शिष्य बोज़ांके तो एक क़दम आगे चलकर क्रोचेके कला-क्षण और तर्क-क्षणका भेद मिटानेको उद्यत हैं। अपने 'सौन्दर्य-विज्ञानके सिद्धान्त' नामक अत्यन्त सुन्दर उपादेय पुस्तकमें वे एक जगह कहते हैं कि 'किसी तानकी पूर्ति करनेवाली आलाप, किसी नादके साथ दूसरे नादका इस तरह जुड़ना कि वह संस्कारी कानोंको सन्तोष दे, किसी रङ्ग-सङ्गतिकेलिए ज़रूरी रङ्ग - योजना, यह सब इतनी आवश्यक और इतने बुद्धियुक्त प्रक्रियाएँ हैं कि जैसे तर्कमें दो धारणाओंसे एक निष्कर्ष निकालना।'

जॉन ड्यूई नामक सुविख्यात अमरीकन दार्शनिककी पुस्तक 'आर्ट ऐज़ एक्सपीरियन्स' इतनी विस्तृत और मार्मिक समीक्षा प्रस्तुत करती है कि उसपर तो स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखना ही उचित होगा। परन्तु यहाँ उनके कुछ मुख्य-मुख्य विचार देता हूँ। दो प्रकारके भाव - जगत्में सौन्दर्यानुभूति असम्भव है—एक तो निरन्तर - परिवर्तनकी अवस्थामें, दूसरे किसी समाप्ति के या विनष्ट होजानेके उपरान्त। सजीव प्राणी हवाई चीजोंका निर्माण करता है; ऐसी हवाई कि जिससे कीट्सके शब्दोंमें सूर्य, चन्द्र, तारे आदि कवि - जगत्में विधाताकी सृष्टिसे कहीं भव्यतर और सुन्दरतम स्वरूपसे अवतीर्ण होते हैं। कला हमारी प्रत्येक जीवन - घटनाके अन्तरालमें है। कला प्रकृतिकी पूर्ति करती है; क्योंकि वह प्रकृतिको अर्थ प्रदान करती है। 'जीवनका अर्थ ही है संघर्ष—परिस्थिति और व्यक्तिके सतत-संघर्षमें कला भी एक क्रिया है। कोई भी भाव वस्तु-विहीन नहीं होसकता, नहीं तो भाव न

रहकर एक अभाव, एक भासमात्र ही होजायगा, यथा शरमाना, सकुचना आदि। प्रत्येक अभिव्यक्तिके मूलमें एक प्रकारकी प्रेरणा होती है। अन्ध-प्रेरणा सोद्देश्य बनकर कलाका रूप प्राप्त करती है। एबरक्रॉम्बीने जिस तरह प्रेरणा या स्फूर्तिके दो प्रकार अपने 'काव्य-तत्व' नामक निबन्धमें किये हैं—एक स्फूर्ति या प्रेरणा तो वह जो अभिव्यक्त होनेमें और होकर अपने आपका स्पष्टीकरण प्राप्त करती है; दूसरी वह स्फूर्ति या प्रेरणा जो स्वयम् कविता बन-जाती है—परंतु जो स्फूर्ति या प्रेरणा स्व-पूर्त, स्व-संतुष्ट और स्व-सीमित(सेल्फ़ कन्टेण्ड और सेल्फ़-सफ़ीशेएट) है वह कोई अभिव्यक्ति खोजने ही क्यों जाय? यह प्रश्न ड्यूईको उसी तरह सताता है कि जैसे शङ्कराचार्यको बौद्धोंका प्रश्न कि यदि ब्रह्म निरीह है तो उसने 'माया' निर्माण ही क्यों की? शङ्कराचार्य जैसे 'लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्' कहकर छूटगये, वैसे शिलर कलाको क्रीड़ावृत्तिका समाधान कहकर टालना या उसका महत्त्व कम करना चाहता है; या बॅहिंगर जैसे कहते हैं कि 'मानो' वह सत्य हो इस प्रकार के सत्याभासमें कलाकार अपनी आत्म-तुष्टि या आत्म-प्रलंबनसे (सेल्फ़-प्रोजेक्शन इन ए वर्ल्ड ऑव मेक-बिलीफ़) कर लेता है।

कॉलिंगवुड और विलड्यूरण्टका उल्लेख भी किया गया है। पर वे मौलिक दार्शनिक न होकर विख्यात दर्शन-अध्येता हैं। उनमेंसे कॉलिंग्वुडका कलाके रूप और स्व-रूपपर जो विचार 'जर्नल ऑव फिलॉसॉफ़िकल स्टडीज़' के जुलाई १९२९ के अंकमें पृष्ठ ३३२-४५ पर व्यक्त हुए हैं वे इसी सन्दर्भमें आवश्यक समझकर देता हूँ। 'टॉमस हार्डी जो कृषकोंके चित्रणमें असफल हैं, स्त्रियोंके चित्रणमें विख्यात होजाता है; टर्नर जो जहाज़के प्रत्येक भागकी रेखा-रेखा दिमाग़से कैन्वसपर उतार सकता था, मानवी आकृति बनाते समय वह एकदम असफल होजाता है। इसका क्या कारण है? कलाकार दो तरहके होते हैं—एक तो वे जो अपनी कलावस्तुकेलिए मानो प्रतीक्ष्यमान हैं; दूसरे वे जो स्वयम् जाकर कला-वस्तुको पकड़ लेते हैं। पहिले रोमैंटिक कलाकार हैं, दूसरे क्लैसिक। क्लैसिकल कलामें रूपकी महत्ता है, रोमैण्टिकमें स्वरूपकी। क्लैसिकल कलाकारका 'कैसे' कहा जारहा है इसपर ज़ोर है तो रोमैंटिकका 'क्या' पर। मगर रोमैंटिकके खिलाफ़ विद्रोह करनेसे ही कला क्लैसिकल नहीं होजायगी।

(३)

कला-समीक्षा सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाली आलोचककी कठिनाईका कुछ समाधान दार्शनिकोंकी ओरसे हुआ। मगर मनोवैज्ञानिकोसे उसके सम्बन्धमें पूछताछ करनेपर समस्या सुलझती नहीं, और जटिल बनती चली जारही है। मनोवैज्ञानिकोंकी ओरसे कला-समीक्षाके मानदण्ड - सम्बन्धमें तीन - चार प्रमुख उत्तर मिलते हैं:—

(१) फ्रायड आदि मनोविश्लेषकोंके मतसे कलाका मूल स्वप्न, दिवास्वप्न आदि अर्धचेतन मानसके स्तरमें पाया जाता है।

(२) जुङ्ग आदिके मतसे यह केवल अर्धचेतन न होकर चेतनके साथ उसके सम्बन्धपर यानी एक प्रकारकी संग्राहक समाधिसे है।

(३) मैकडूगल आदिके मतसे कलाका मूल आदिम-वृत्तियोंके विकास और संस्कारमें अन्तर्हित है, तो

(४) गेस्टॉल्ट-मनोवैज्ञानिकोंके मतसे कलाका आदि - बिन्दु है एक प्रकारकी मनस्तत्वकी समग्र कलाओंका भटकना और लौट आना, फिर भटकना और फिर लौट आना। या हॉवके अनुसार उसे 'संश्लिष्ट सौंदर्य-बोध' (सिनेस्थीज़िया) भी कह सकते हैं।

फ्रायडका आत्मनिष्ठतापर अधिक ज़ोर है। वह कामवासनाको प्रमुख धुरा मानकर उसके आसपास मनुष्यकी ललित कलाओं और अन्य प्रदर्शनकी भावनाओंको बाँधना चाहता है। प्रत्यक्ष - अप्रत्यक्ष रूपसे वह कामवासनाके साथही कलावृत्तिको जोड़ देता है। यह एकान्तिक विचार अब प्रायः कई मनोवैज्ञानिकोंको अमान्य है; यद्यपि कामवासना एक प्रबल प्रवृत्ति है जो मनुष्यके आचार - विचारोच्चारोंको आच्छन्न कर डालती है, यह हमें स्वीकार करना होगा। कलाके मूलमें स्वप्न - तत्वके पक्षमें कई उदाहरण दिये जाते हैं। बलज़ाकका वह अवतरण दिया जाता है जिसमें उसने कहा है कि उन श्रमिक स्त्री-पुरुषोंके समूहमें मुझे ऐसा लगा मानो मैं उनमेंसे एक हूँ; मेरे पैरोंमें भी वैसे फटे जूते हैं, तनपर भी गन्दे चीथड़े। या गेटेके आत्मचरित्रसे और टैगोरकी जीवन-स्मृतिसे ऐसे अंश दिये जासकते हैं। हिन्दीकी अधिकांश छायावादी कविता ऐसीही स्वप्न-परिचालित हैं।

हैवलॉक एलिसने कहा है कि ये स्वप्न स्वप्नद्रष्टाके व्यक्तित्वका पृथक्करण होते हैं।

जुंग आदिके मतसे स्वप्नसे अधिक उस स्वप्नके आधेय, प्रतीक या संकेत माध्यमका महत्त्व है। उसी माध्यमके महत्त्वके आधारपर थॉरबर्नने अपने 'कला और अचेतन मानस' में कलाकारोंकी 'संचयन और समाधि' (सेलेक्टिव मेडीटेशन) कहा है। कलाकार किसी एक विशिष्ट वस्तुसे ही क्यों प्रभावित होता है, अन्यसे क्यों नहीं? इसका उत्तर केवल स्वप्न-विश्लेषण न दे सकेंगे। स्वप्न हमारे अर्धचेतन मानस स्तरसे ऊपर आते हैं, जब मनका कुछ भाग खुला होता है या घुल-पिघल जाता है। मगर मन तो औरभी गहरा है। अचेतन मनमें कई संस्कारोंने जड़ पकड़ली है। वेही ऊपर उठते हैं। जैनेन्द्रकुमारके नये उपन्यास 'कल्याणी' में कल्याणीका 'जगन्नाथका मन्दिर' ऐसेही एक नारीके अचेतन स्तरके रूढ़िसे दबे मनका बड़ा मार्मिक उच्छ्‌वास है। या 'शेखर' में सींखचोंमें बन्द रहकर जुहीके फूलोंके साथ भटकनेवाला शेखरकी स्मृतिमालिकाका चित्रण! इसी कलाकारों के 'संचय और समाधि' को मराठीके सुविख्यात दार्शनिक-औपन्यासिकने कई वर्ष पूर्व साहित्य-सम्मेलनके अध्यक्षपदसे 'सविकल्प समाधि' कहा था, जो योगियोंके 'निर्विकल्प समाधि' से भिन्न है।

मैक्डूगल कलामें सामाजिक तत्त्वको प्रधान मानता है और व्यक्तिके विकासको गुंजाइश देता है। अतः उसके मतसे हमारी आदिम - वृत्तियोंके निरोध, और प्रतिक्रिया और प्रगति और उत्तोलन (सब्लिमेशन) में कलाका विकास निहित है। आधुनिक प्रगतिशील आलोचक भी इसी वस्तुवादी पद्धतिका अवलम्बन करते हैं। यद्यपि उनके समकालीनोंके निर्णयोंमें कभी-कभी जल्दबाज़ी और अनावश्यक असहानुभूतिका प्रवेश होजाता है, यथा साहित्य-परिषद्‌के सभापति नन्ददुलारे वाजपेयीके भाषणमें जैनेन्द्रकुमारके उपन्यासोंपर आक्षेप या शिवदानसिंहजीकी आधुनिक कविताकी आलोचना में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की रचनाओंको ध्वंसवादी क़रार देना, या प्रकाशचन्द्रगुप्तका 'महादेवी वर्मा' पर लेख प्रगतिशील आलोचनाका नमूना मानना, आदि।

गेस्टाल्टपंथी मनोवैज्ञानिक यह मानकर चलते हैं कि हमारे अनुभव कभीभी जीवनके टुकड़ोंके आंशिक चित्र न होकर समग्र जीवनकी

संश्लिष्ट संवेदनाएँ होती हैं। उनकी दृष्टिसे कला-समीक्षा कभीभी विवरणात्मक न होकर, सामग्र्यको प्रधान लक्ष्य मानकर परिणाम (इफ़ेक्ट) की आलोचना होती है। जैसे सीज़ान नामक सुविख्यात फ्रेंच चित्रकारने एक जगह कहा है कि रचना और रङ्ग दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। दोनों एक साथही चित्रकारके मनमें जागृत होती हैं। इस प्रकारकी संश्लिष्टता हिंदी-आलोचकोंमें कतिपय अपवाद छोड़कर कहाँ मिलती है। आन्द्रेका एक अवतरण, जो क्रोचेने अपने 'सुखवाद। सौंदर्यदृष्टिकी आलोचना' नामक अध्यायमें दिया है, यहाँ आवश्यक है—"कलाका सौंदर्य प्रथम-दर्शनसे कल्पनाको क्या कुरेद मिलती है इसपर अवलम्बित न रहकर उस कला-कृतिके मूलमें जो सौष्ठव रहता है, उसपर अवलम्बित है।"

मनोवैज्ञानिक आलोचनाओंका उपयोग बहुत सँभालके साथ होना चाहिए। अन्यथा मनोविज्ञानके नये सिद्धान्त पक्षान्ध आलोचकोंके हाथमें पड़कर कैसा विद्रूप नज़ारा प्रस्तुत कर सकते हैं इसके उदाहरण हिंदीमें भी ढूँढनेकेलिए दूर नहीं जाना होगा। मैं नाम गिनाना नहीं चाहता, क्योंकि संस्कारी पाठक स्वयम् ऐसी नित्य और अनित्य स्वरूपकी आलोचनाओंमें विवेक करले सकते हैं। मनोविज्ञानने आलोचनाको यदि कुछ दिया है तो वह भावना, बुद्धि और संकल्पमें तारतम्य-निर्माण है। उसे भूलकर आलोचना कुछ बना नहीं सकती, बिगाड़ ज़रूर सकती है, या फिर भटक सकती है।

(३)

अब कलाकार-आलोचकोंकी ओरसे पाँच-सात वाक्य मैं पेश करना चाहता हूँ, जिसके उपरान्त हिन्दी आलोचना-क्षेत्रमें मचीहुई धाँधलीके कुछ कारण देकर लेख समाप्त करूँगा।

१ नीत्शे मानता था कि हमारी धर्मसंस्था, नीतिमत्ता, दर्शनशास्त्र सब अधोगतिकी अवस्थामें हैं। ऐसी स्थितिमें एक ही उपाय-योजना है: 'कला' !

२ इब्सनका कथन है कि जीनेका अर्थ है उन दैत्योंसे सतत युद्ध जो हमारे मन और बुद्धिको आच्छन्न कर डालते हैं; और लेखनका अर्थ है खुदको बुलाना और कहना कि इस लड़ाईमें निर्णायकका काम करो।

३ अनातोल फ़्रान्स कहते थे कि उनकी एक किताबमें इतने उपन्यास हैं जितने कि पाठक—प्रत्येक व्यक्तिके अनुसार उनकी पुस्तकका परिणाम भिन्न रहता है।

४ पॉलक वेलेरीने अपने पात्रके मुँहसे कहलवाया है—कलामात्र रुचि-निर्भर है। कलाकार तो वहाँसे आरम्भ करता है जहाँ परमात्मा भी रुक जाते हैं।

५ कॉलरिजका यह मत भी हमें ध्यानमें रखना चाहिए कि सच्ची कलाकृति तो वह है जिसमें पाठक निरी यान्त्रिक प्रक्रियासे या मंज़िलके कुतूहलसे परिचालित होकर न चले वरन् रचनाके रसग्रहणकी यात्रामें पग-पगपर वह आनन्दास्वाद लेता चले।

६ क्लाइव बेल अपनी 'कला' नामक पुस्तकमें कहते हैं कि समाज कलाकारको प्रत्यक्ष रूपसे, अतः कलाको अप्रत्यक्ष रूपसे प्रभावित करता है···विश्वके सब कलावंत याचक बनें, क्योंकि कला और धर्मको पेशा नहीं बनाया जासकता। पेशा बनाकर उन्हें नष्ट अवश्य किया जासकता है। सच्चे कलाकार कलाको पेशा इसलिए नहीं बनाते कि वे रचना करनेकेलिए जीते हैं, जीनेकेलिए रचना नहीं करते।

७ ऑल्डूस हक्स्लेने अपने 'वर्ड्स्वर्थ यदि उष्ण-कटिबंधमें होते तो' नामक निबन्धमें 'काव्य और भोग परस्पर विपरीत वस्तुएँ हैं' ऐसा माननेवाले पाकपरस्त आलोचकोंको बड़ी अच्छी फ़बतियाँ सुनायी हैं—ब्लेक कविने मिल्टनके विषयमें कहा था कि वह कवि न होकर अनजान रूपसे शैतानका साथी है। प्रत्येक मनुष्यमें ऐसा ग़रीब शैतान रहता है जिसको सब ओरसे सहायता और अनुमोदनकी आवश्यकता होती है। कलाकार इस शैतानका स्वाभाविक प्रतिपादक है। मुझे उस टॉल्स्टॉयपर दया आती है, जो केवल उपदेशक बनारहा।

८ जर्मन कवि गेटेने कवियोंमें दो तरहके साहित्य-विलासी [डिलेताँते] माने हैं—एक तो वे जो काव्यात्मा व्यक्त होजाय इतनाही काफ़ी समझते हैं और काव्यरूपकी उपेक्षा करते हैं; दूसरे वे जो काव्यरूपकी बारीकियोंमें यानी प्रास-अलंकारादिमें उलझकर काव्यात्माकी हत्या करते हैं। दोनोंकी कला असफल है।

६ निरालाजीकी कविताको दुर्बोध माननेवाले पाठकसे मैं चला था, उसे मैं शॉपिनहारका यह वाक्य भेंट करना चाहता हूँ—जब एक पुस्तक और एक दिमाग़ एक-दूसरेसे टकराते हैं, और दोनोंमेंसे किसी एकसे खोखलेपनकी आवाज़ आती है, तब क्या यह ज़रूरी है कि वह वह किताब ही हो, निन्यानवें प्रतिशत उदाहरणोंमें वह पाठकका दिमाग़ ही होता है।

अन्तमें, हिन्दीमें सौन्दर्य-विज्ञान सम्बन्धमें और कलासमीक्षाके सम्बन्धमें गम्भीर आलोचनाओंकी ओर जितना चाहिए उतना ध्यान नहीं दिया गया है। स्व. पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' आदि कुछ आलोचकोंको छोड़कर अन्य किसीने इस विषयको छुआ नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बहुत बड़े आलोचक थे, वे समालोचकोंके भी समालोचक थे; पर क्रोचेके साथ इन्दौरवाले अपने भाषणमें और 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' नामक द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थवाले अपने निबन्धमें वे अन्याय करगये, यह आलोचनाके एक निष्पक्ष इतिहासकारको मानना ही होगा। आई० ए० रिचर्ड्सको अधिक महत्त्व देकर, काव्यमें लोकपक्ष और मंगल-भावनाके व्यक्तीकरणके आग्रहमें संवेदनावादियों, मूर्त-विधानवादियों आदिके प्रयोगोंको उन्होंने बिलकुल नगण्य करडाला था। 'कलाके लिए कला' वाली बातको जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या अनेक क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते। और 'वास्तविक स्थितिकी अनुभूति एक बात है, अभिव्यंजना दूसरी बात' (पृ० ८६) आदि इन्दौरवाले भाषणमें उनके कई वाक्य हैं जो क्रोचेको ठीकसे व्यक्त नहीं करते। मुझे इस प्रकार स्वर्गीय आचार्यके पाण्डित्य या आलोचना-शक्तिमें तिलमात्र भी सन्देह या शंका नहीं करना है। केवल यही कहना है कि जब इतने बड़े आलोचक तकमें कहीं-कहीं एकांगीणता आजाती थी, तब अन्य आलोचकोंका तो कहना ही क्या! किसी भी आलोचकको, चाहे वह वैज्ञानिक हो अथवा कलात्मक, अपने आपको अन्तिम निर्णायक नहीं मानना चाहिए। संक्षेपमें हिन्दीमें कला-समीक्षामें मैंने, अपने आलोचकोंमें निम्न अभाव पाये हैं, जिन्हें संक्षेपमें गहराईका अभाव और ऊँचाईका अभाव कह सकते हैं। गहराईके अभावके अन्तर्गत आलोच्य कलावस्तु अन्तरंगमें प्रवेश करनेवाले गहरे अध्ययन और सहानुभूतिका एक साथ न रहना, जल्दबाज़ी और एकांगीणता (प्रगतिशील आलोचकोंमेंसे भी कुछ इसी एकांगीणताके शिकार हैं) आदि

दोष आजाते हैं। ऊँचाईके अभावमें किसी आदर्श नीति-मूल्योंकी भित्तिका आलोचकोंमें अभाव, रुचिका सस्तापन यानी संस्कारिताका अभाव, और सबसे घोर दोष जो आजाता है वह है आलोचकोंमें प्रामाणिकताका अभाव। वह आलोचना वन्ध्या है जो विचार-आचार-उच्चारमें एकता उत्पन्न न कर सके और जो उस एकतासे न उत्पन्न हुई हो।

अन्तमें, आधुनिक कला-प्रयोगोंके प्रति और कलाकारोंके प्रति समालोचकोंको अधिक सहिष्णु होनेकी प्रार्थना करते हुए मैं आई० जी० कैम्पबेल के 'ऑब्जेक्टिव फ़ॉर्म ऐण्ड इट्स रोल इन ईस्थेटिक्स' का एक वाक्य देना चाहता हूँ :—"नवीन युगके साथ आधुनिक कलाकारोंको नवीन दृष्टि प्राप्त होती है और उस नवीन दृष्टिसे वह नये रूपविधान प्रस्तुत करता है। यह रूपविधान वह केवल नवीनताकेलिये नहीं निर्माण करता वरन् वह उसकी नयी दृष्टिका परिणाम है।"

"ए परफ़ेक्ट जज विल रीड ईच वर्क ऑव विट
विद द सेम स्पिरिट ऐज़ इट्स ऑथर रिट।"

—पोप

साहित्यके मूल्य

साधारण बोलचालकी भाषामें मूल्य शब्दका सम्बन्ध मोल - भाव या क्रय - विक्रयकी मनोवृत्तिसे है। उस शब्दके सुनते ही वर्तुलाकार रजत-खण्डोंका जिनका प्रत्यक्ष दर्शन आजकल कुछ दुर्लभ होगया है या उनके प्रतीक-स्वरूप पत्र-मुद्राओंका आकर्षक रूप सामने आजाता है। अङ्गरेज़ी भाषामें 'वैल्यू' शब्दका अर्थ हिन्दीकी अपेक्षा अधिक व्यापक होगया है किन्तु वहाँ भी वह आर्थिक व्यञ्जनासे निर्मुक्त नहीं हुआ है, और शायद इसी कारण वे विशुद्ध कलावादी जो कलाको सब मूल्योंसे परे मानते हैं साहित्यके साथ मूल्य शब्द जुड़ा हुआ देखकर चौंक उठते हैं और कभी-कभी प्रभु ईसा - मसीहके-से आवेशमें आकर कहने लगते हैं कि तुम लोगों ने साहित्य-जैसे पावन देव - मन्दिरको क्रय - विक्रयकी हाट बनाकर रक्खा है। शायद ऐसी ही आपत्तियोंसे बचनेकेलिए भारतीय समीक्षा - शास्त्रमें 'प्रयोजन' शब्दका व्यवहार हुआ है। प्रयोजन शब्द यद्यपि पर्याप्त रूपेण विस्तृत है और आर्थिक व्यञ्जनासे मुक्त भी है तथापि वह मूल्यका ही आन्तरिक रूप है। मूल्य वस्तुके निर्माणके पश्चात् मिलता है। निर्माणसे पूर्व वही लक्ष्य रूपसे प्रयोजन कहलाता है। कलावादी तो मूल्य और प्रयोजन दोनोंके ही विरोधी हैं।

ऐसे कलावादियोंके क्षोभकी निवृत्तिके अर्थ हमको मूल्य शब्दके अर्थपर विचार करलेना आवश्यक होजाता है। साधारणतया हम उसी वस्तुको मूल्यवान् कहते हैं जो या तो सीधे तौरसे हमारे उपयोगमें आसके या हमारेलिए उपयोगकी वस्तुओंको जुटा सके या भविष्यमें जुटा सकनेकी सामर्थ्य रक्खे। धनसे मूल्यका प्रमुख रूप इसीलिए माना है कि उसके द्वारा हमको बहुत-सी उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त होसकती हैं। हम उपयोगी उसी वस्तुको कहते हैं जो हमारी किसी आवश्यकताकी पूर्ति करसके। कूड़ा-कर्कट जब हमारी किसी आवश्यकताकी पूर्ति नहीं करता तो अनुपयोगी समझा जाकर फेंक दिया जाता है; किन्तु वही जब खाद बनकर हमारे उद्यानके फूलों या

गोभी-टमाटरके उत्पादन तथा उनकी पुष्टि और आकार-वृद्धिमें सहायक होता है तब हमारी एक आवश्यकताकी पूर्तिके कारण उपयोगी और मूल्यवान् बनजाता है। आवश्यकताएँ केवल भौतिक जगत्में ही सीमित नहीं रहतीं, वे मानसिक और आध्यात्मिक भी होसकती हैं। जो वस्तुएँ इन आवश्यकताओंकी पूर्त्ति करती हैं वे उपयोगी और मूल्यवान् कहलाती हैं।

कलावादियोंकी कला भी जो उपयोगिताकी अपावन गन्धसे परे समझी जाती है अपनी सौन्दर्य - जन्य प्रसन्नता देनेकी शक्ति और क्षमताके कारण उपयोगी कही जासकती है। संगीत भी क्लान्त मनको विश्रान्ति देनेके कारण उपयोगिताके क्षेत्रके बाहर नहीं। देश - सेवक अपने आदर्शोंकी पूर्तिके लिए प्राणोंकी भी आहुति देनेमें आना-कानी नहीं करता; उसकेलिए वे आदर्श ही मूल्यवान् हैं, क्योंकि उनकी पूर्त्तिमें उसकी विस्तृत आत्माको परितुष्टि होती है। एक धार्मिक व्यक्ति घर-बारकी चिन्ताओंको छोड़कर हरिभजनमें मग्न रहता है, क्योंकि वह उसे अपने प्रियतमसे मिलनका साधन समझता है। राजरानी मीराने अपने प्रभु गिरिधर-नागरकेलिए राजवैभव, लोक-लाज और कुल-मर्यादाको तिलाञ्जलि देना ही श्रेयस्कर और मूल्यवान् समझा था, क्योंकि उससे उसके आध्यात्मिक भावकी तुष्टि होती थी। कोई श्रद्धालु भक्त मासिक 'कल्याण' केलिए डाकियेकी अधीर प्रतीक्षा करते हैं, और कोई व्यसनप्रिय - सज्जन टाइम्स ऑव इण्डियाके क्रॉस वर्ड पज़्लसके लिए न्यूज़-एजेण्टकी दूकानके दिनमें दस बार चक्कर लगाते हैं क्योंकि उन वस्तुओं द्वारा उनकी विभिन्न आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है।

अब प्रश्न यह होता है कि ये मूल्य भिन्न - भिन्न व्यक्तियोंकी रुचि-वैचित्र्यके कारण सापेक्षित है या निरपेक्ष। मूल्योंके सम्बन्धमें भी कुछ सापेक्षता अवश्य है किन्तु मनुष्यका ज़रा निकटतर अध्ययन करनेसे इन आवश्यकताओंके मोटे-मोटे प्रकारोंका पता चल जायगा।

मनुष्य भौतिक पदार्थोंकी भाँति जड़ नियमोंके बन्धनमें रहता है। यद्यपि उसने अपनी वैज्ञानिक बुद्धिके बलपर उन नियमोंपर बहुत अंशोंमें विजय प्राप्त करली है तथापि वह उनकी नितान्त अवहेलना नहीं करसकता। मानवी बुद्धिकी चरम सफलताके द्योतक वायुयान भी अचल होकर गगन-मण्डलमें स्थित नहीं रह सकते। शीतोष्ण और क्षुत्पिपासा आदि आव-

श्यकताओंसे भी वह अपना पल्ला नहीं छुड़ा सका। मनुष्य सत् होनेके नाते मिट्टीके ढेलेकी भाँति प्राकृतिक नियमोंमें बँधा हुआ है और सजीव होनेके नाते आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्राणिशास्त्र - सम्बन्धी आवश्यकताओंमें पशुओं का समानधर्मी है। अन्तर केवल इतना ही है कि मनुष्यकी इन सब बातों में कुछ मानसिक पक्ष भी लगा रहता है और इस कारण उसका आनन्द भी बढ़जाता है। पेट तो होटलमें भी भरजाता है, किन्तु प्रेमसे परोसे हुए भोजनमें कुछ सरसता, तुष्टि और शायद पुष्टि भी अधिक बढ़जाती है। इसी कारण परम विरक्त गोस्वामी तुलसीदासजीको विनय-पत्रिकामें राम-नामके सम्बन्धमें "सुखद अपनो सो घरु है" कहना पड़ता था। यहाँतक तो मनुष्यके अन्नमय और प्राणमय कोषोंकी बात रही, उसका मनोमय कोष इन दोनोंसे ऊँचा है। इसका सम्बन्ध उसके मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारसे है। उसकी एषणाएँ, अभिलाषाएँ, महत्वाकांक्षाएँ सब इसीसे सम्बन्धित हैं। इस प्रकार उसकी भौतिक और प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताओंके अतिरिक्त उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ भी हैं। यही आवश्यकताएँ उसके व्यक्तित्वकी पोषिका बनजाती हैं। वे उसकी अहं-भावनाको तुष्ट करती हैं। किन्तु मनुष्यमें जहाँ व्यक्तित्वका पार्थक्य है वहाँ उसकी आत्मा उसको व्यक्तित्वकी तुच्छ सीमाओंसे ऊपर उठाती है। उसकी सामाजिकता इसीका फल है। इसीके कारण वह आचार और नीतिके घेरेमें आता है, यही प्रवृत्ति अनेकतामें एकता स्थापित करती है। योरॅपके लोगो ने इस एकताको सामाजिक प्रवृत्तिका व्यावहारिक आधार माना है। भारतीय मनीषियोंने इस एकताकी प्रवृत्तिको आध्यात्मिक आधार माना है और उसका सम्बन्ध विज्ञानमय कोषसे स्थापित किया है। उसी आधारपर भारतीय एकात्मवादकी प्रतिष्ठा हुई। कुछ पाश्चात्य दार्शनिकोंने भी 'सुपर-ईगो' अर्थात् पर-आत्मा माना है। आनन्दमय कोष इससे भी ऊँचा है। उसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीकी एकता होजाती है। कला अपने चरम विकासमें इसी ध्येयकी ओर अग्रसर होती है। इसीलिए रसको काव्यकी आत्मा माना है और उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है।

आप शायद इस ऊब दिलानेवाले मनुष्यके विश्लेषणको सुननेसे थक गये होंगे और कहेंगे कि साहित्यके परिषद्में यह बेसुरा दार्शनिक राग क्यों छेड़ा गया। साहित्य मुखरित जीवन है; जीवनका ही आत्मचिन्तन है।

जीवनकी आवश्यकताओंको भूलकर हम साहित्यका चिन्तन नहीं करसकते। हमारे यहाँका साहित्य शब्द 'लिटरेचर' से कुछ अधिक व्यञ्जना रखता है। साहित्यमें 'सहित': 'इकट्ठे' होने वा समन्वयका भाव लगा हुआ है—"सह एव सहितं तस्य भावं साहित्यं।" दूसरी व्युत्पत्ति है "हितेन सह सहितं तस्य भावः साहित्यं।" साहित्यकी इन्हीं दोनों व्युत्पत्तियोंसे हमको इन मूल्यों के प्रश्नको हल करनेमें सहायता मिलेगी। यह बात तो सभी मानेंगे कि जिसका जीवनमें मूल्य है उसका साहित्यमें भी मूल्य है। साहित्यके मूल्य जीवनके मूल्योंसे भिन्न नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि इनमें कोई सर्वप्रधान है कि जिसमें हाथीके पैरके समान सबके पैर आजायँ अथवा सब एक-सा महत्त्व रखते हैं और देवताओंके समान कोई छोटा-बड़ा नहीं? यह प्रश्न टेढ़ा है। सब लोग अपने-अपने पक्षको महत्ता देकर अपनी-अपनी ढपलीपर अपना-अपना राग अलापते हैं। 'भिन्न रुचिर्हि लोकाः' की बात इस समस्याको और भी जटिल बना देती है। सब मनुष्योंको एक लाठीसे हम हाँक भी नहीं सकते। कुछ लोग तो प्रगतिवादियोंके साथ यह कहेंगे कि 'भूखे भजन न होय गुपाला' और कुछ विहारीके साथ कहेंगे "तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रतिरंग अनबूढ़े-बूढ़े, तिरे जे बूढ़े सब अङ्ग।" मनोविज्ञानने भी 'इन्ट्रोवर्ट' [अन्तर्मुखी] और 'एक्स्ट्रोवर्ट' [बहिर्मुखी] दो प्रकारके टाइप माने हैं। छायावादी शायद इन्ट्रोवर्ट कहलायेंगे और प्रगतिवादी एक्स्ट्रोवर्टके अन्तर्गत आते हैं। ये दोनों टाइप किसी अंशमें एक-दूसरेको प्रभावित कर सकते हैं, परिवर्तित नहीं कर सकते। व्यक्तियोंकी व्यक्ति-सम्बन्धी और टाइप-सम्बन्धी विशेषताओंको ध्यानमें रखकर अब यह ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य केलिए भौतिक (प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी इसमें शामिल हैं) भावात्मक, बौद्धिक, सामाजिक (इनमें हम नैतिक आवश्यकताओंको भी शामिल करते हैं) और आध्यात्मिक आवश्यकताओंमें किसी एकको प्राधान्य देना चाहिए या सबको। हमारे यहाँ जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके चार पुरुषार्थ मानेगये हैं उनका भी इन्हीं मूल्योंसे सम्बन्ध है। धर्ममें सामाजिक और नैतिक मूल्य आ जाते हैं, अर्थका सम्बन्ध भौतिक मूल्योंसे है, काममें सौन्दर्य और कला-सम्बन्धी सभी मूल्य सम्मिलित हैं, और मोक्षमें आध्यात्मिक मूल्य आजाते हैं। यद्यपि ये सभी मूल्य अपना महत्त्व रखते हैं तथापि इनमेंसे किसी एककी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मोक्षको चाहे हम थोड़ी देरकेलिए बालाए-ताक रखदें, किन्तु इन तीनको हम नहीं छोड़ सकते

और करीब - करीब तीनोंका बराबर महत्त्व है। किसी एकको भी प्राधान्य देना जीवनका सन्तुलन बिगाड़ना होगा। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी ने अपने भाई भरतजीको प्रश्नों द्वारा नीतिका उपदेश देते हुए पूछा था कि कहीं अर्थसे धर्म या धर्मसे अर्थमें तो बाधा नहीं पड़ती अथवा कामसे धर्म और अर्थमें बाधा तो नहीं पड़ती ?

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने भरतजीको अपने जीवनमें धर्म, अर्थ, काम तीनोंहीके समन्वयका उपदेश दिया था। यही समन्वय-दृष्टि भारतीय दृष्टि है। हमारे यहाँके काव्य-समीक्षकोंने आनन्दमें सब मूल्योंका समन्वय किया है। वे लोग यश और अर्थके भौतिक उद्देश्योंसे चलकर पर-निर्वृत्तिके आध्यात्मिक लक्ष्य तक गये हैं।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मित तयोपदेशयुजे॥

भामहने भी काव्यको धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका साधक और कला में नैपुण्य उत्पन्न करनेवाला तथा प्रीति और कीर्तिकी प्राप्ति करानेवाला बतलाया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्यनिबन्धनम्॥

आध्यात्मिक मूल्य भौतिक मूल्योंसे ऊँचे अवश्य हैं, किन्तु उनकी उपेक्षा नहीं करते। भौतिक सोपानों द्वारा ही आध्यात्मिककी प्राप्ति होती है।

साहित्यका मूल्यांकन भी हम इसी व्यापक दृष्टिकोणसे कर सकते हैं। जो साहित्य हमको इन धर्म (नीति, आचार और आध्यात्मिक मान), अर्थ (भौतिक और शारीरिक मान) और काम (एषणाएँ, महत्वाकांक्षाएँ कला और सौन्दर्य - सम्बन्धी मान) इन तीनों प्रकारके मानोंके अथवा मूल्यांके समन्वयकी ओर ले जाता है, वही सत्साहित्य है। साहित्यका अर्थ भी सहित का भाव है जो समन्वय-दृष्टि-प्रधान है। आचार्य कुंतकने शब्दके शब्दोत्तर के साथ और वाच्यके वाच्यांतरके साथ मेलको ही साहित्य कहा है।—

"सहितौ इत्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दा-

न्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परास्पर्द्धित्व लक्षणमेव विवक्षितम् ।"

कुंतकने शब्द और अर्थ दोनोंको ही महत्व दिया है। यथा—

शब्दार्थौ संहितौ वक्र कविव्यापारशालिनौ ॥
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणौ ।

इसलिए वक्रोक्तिवादका कोरे अभिव्यंजनावादसे तादात्म्य करना उचित नहीं ठहरता। साहित्यकी दूसरी व्युत्पत्ति है, "हितं न सह सहितं तस्य भाषा साहित्यं।" साहित्यके दोनों ही अर्थ हमको समन्वयभाव और लोक-मंगलकी ओर लेजाते हैं। जो साहित्य मनुष्य-जीवनमें उसकी सभी वृत्तियों और जीवनके सभी स्तरोंमें साम्यकी ओर ले जाता है, वही हमारेलिए मान्य होगा। इस साहित्यको चाहे प्रगतिवाद कहें, चाहे छायावाद और चाहे समन्वयवाद।

प्रगतिवादने आर्थिक मूल्योंको प्रधानता दी है। वह अन्य मूल्यों की यदि उपेक्षा करता है तो वह एकाङ्गी ठहरकर इस आदर्शसे गिरजाता है। छायावाद मनुष्यकी कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियोंका पोषण करता है, वह शब्द-सौन्दर्यपर भी अधिक बल देता है। किन्तु वह भी आर्थिक मूल्योंकी उपेक्षा नहीं करसकता। आजकलके छायावादी प्रायः सभी इन आर्थिक मूल्योंकी ओर सचेत होते जाते हैं। कला - सम्बन्धी मूल्य अथवा नगेंद्र जीके शब्दोंमें छायावादका वायवी सौन्दर्य मूर्त - सौन्दर्यको पूर्णता प्रदान करता है। स्वयं सौन्दर्य भी एक साम्य है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही का सम्मिश्रण रहता है। सौन्दर्यका आधार भौतिक है, किन्तु बिना मानसिक रुचि और आकर्षणके वह अपना पूर्णताको नहीं प्राप्त होता है। रवीन्द्र बाबूने इसपर ही कुछ कहा है—

"ओ वोमन, दाउ आर्ट हाफ़ ड्रीम ऐण्ड हाफ़ रीयैलिटी।"

सुमनके दिव्य सौन्दर्यकेलिए उसका परागमय स्थूल शरीर ही नहीं, वरन् कटीली डाले और मिट्टीके ढेले भी आवश्यक हैं। किन्तु हम मिट्टीके ढेलेपर ही सन्तोष नहीं करसकते। सुमनका सौरभ मिट्टीके ढेलेकी पूर्णता है। वही पृथ्वीका गन्धवती होना प्रमाणित करता है। किन्तु हमको यह भी मानना होगा कि फूलके साथ हाँडी जिसमें दाल पकती है और घड़ा

जिसमें पानी ठंडा होता है, मिट्टीकी पूर्णताओंमेंसे हैं। इसके साथ हम यह भी नहीं भूल सकते कि सारी मिट्टी घड़े और कुल्हड़ बनानेमें ही ख़र्च होजाती है, उसके खिलौने भी बनते हैं और उससे सुमन-सौरभ भी उत्पन्न होता है।

उपसंहार रूपसे एक बार मैं फिर दुहराना चाहता हूँ कि जीवनके मूल्य साहित्यके मूल्य हैं। जो साहित्य जीवनको पूर्ण बनाये, वही सत्साहित्य है। जीवनकी पूर्णताका अर्थ है भौतिक, मानसिक, सामाजिक, और आध्यात्मिक (जिसमें धर्म और कला दोनों ही सम्मिलित हैं) मूल्योंकी सम्पन्नतापूर्ण समन्विति। हम वैविध्य - शून्य अभावोंकी समन्विति नहीं चाहते। हम चाहते हैं वीणाके स्वरों अथवा इन्द्रधनुषके रंगोंका-सा विविधतापूर्ण सम्पन्न साम्य। सत्साहित्य जीवनके व्यापक क्षेत्रमें, विविधतामें एकता स्थापित करनेवाले विकासवादके चरम लक्ष्यको चरितार्थ करता है। मनुष्य केंचुएसे तथा उससे भी उच्च श्रेणीके जीवधारियोंसे अधिक विकसित इसीलिए कहा जाता है कि उसके अंगोंमें कार्योंके वैविध्यके साथ पूर्ण अन्विति है। सत्साहित्यका क्षेत्र न किसी वर्ग-विशेषमें सीमित होगा और न उसमें किसीका बहिष्कार होगा। जहाँ उसको मानवताके दर्शन होंगे, उसकी वह उपासना करेगा। उसकेलिए सुन्दर और उपयोगीमें भी भेद न होगा। उसकेलिए उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों एकही वस्तुके भीतरी और बाहरी रूप होंगे। बाहर और भीतरके साम्यमें ही सौन्दर्यकी पूर्णता है और वहीं रस भी है। इस दृष्टिसे साहित्यके प्राचीन मान अलंकार, ध्वनि आदि भी निरर्थक नहीं होजावेंगे। वे सौन्दर्यके ढाँचोंके रूपमें वर्तमान रहेंगे। कलाकार को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बिना वस्तुके ढाँचे खोखले और निर्मूल्य होंगे और बिना ढाँचोंके सामग्री बिखरी रहेगी और उसमें अन्विति नहीं आसकेगी। काव्यकी आत्मा रस ही रहेगा, किन्तु उसका स्रोत रूढ़िवादका अन्धकूप न होगा, वरन् जीवनका विशाल और गतिशील निर्झर होगा। भविष्यका कलाकार जीवनके भौतिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक और आध्यात्मिक श्रेयोंको कलाके सौन्दर्यपूर्ण ढाँचोंमें ढालकर प्रेय बनावेगा। वह सौन्दर्यको केवल वायवी न रखकर उसको पुष्ट और मांसल बनावेगा और अचल तथा स्थूलमें भी वायवी सौन्दर्यकी प्राण-प्रतिष्ठा करेगा।

आधुनिक हिन्दी कविता

भारतेन्दु बाबूका स्वर्गवास हुए प्रायः ५५ वर्ष हुए होंगे। उनके समयमें साहित्यिकोंने खड़ीबोलीको केवल गद्यकेलिए अपनाया था। उनके पीछे जब पद्यकेलिए भी खड़ीबोली अपनानेका आन्दोलन चला तो उनके समयके अनेक साहित्यिकोंने इस बातका विरोध किया। जब स्वर्गीय द्विवेदीजी सरस्वतीके संपादक बने तब इस आन्दोलनको एक नई गति मिली। यह कहना भी अनुचित न होगा कि यह आन्दोलन तभीसे ठीक-ठीक आरम्भ हुआ। द्विवेदीजीने अबसे केवल ३७ वर्ष पहले—सं० १९६०—में सरस्वती का संपादकत्व ग्रहण किया था। पंतजीके 'पल्लव' को निकले अभी १५ वर्ष ही हुए हैं, और उनकी 'ग्राम्या' को निकले अभी पूरा एक वर्ष भी नहीं हुआ। हिन्दी कविताकी प्रगति इसीसे समझी जासकती है। किसी भी साहित्यके लिए यह गति गर्वकी वस्तु होसकती है। भारतेन्दुके पश्चात् हिन्दी साहित्य और विशेषकर कवितामें जो परिवर्तन-आवर्तन हुए हैं, उनकी तुलना हिन्दी के ही रीतिकालीन साहित्यसे की जासकती है। रीतिकालका साहित्य विभिन्न भाव-धाराओंसे निर्मित है, जो बहुधा एक-दूसरेकी विरोधिनी हैं। एक ओर मतिरामकी कविता है तो दूसरी ओर भूषणकी। दोनों एकही युगके कवि थे; कदाचित् एकही माता-पिताके पुत्र भी थे। आधुनिक हिन्दी कवितामें भी 'ग्राम्या' और 'दुलारे दोहावली' एकही युगकी रचनाएँ हैं। इससे हमारे युगकी प्रगति अथवा दुर्गति भलीभाँति समझी जासकती है।

मेरी समझमें हिन्दीकेलिए यह सृजनशीलता नयी नहीं है। मध्य युगमें महान् साहित्यिकोंका अभाव नहीं रहा। कुछ पाश्चात्य देशोंकी अपेक्षा भारतवर्षमें मध्ययुग अधिक दिनों तक रहा, कहना चाहिए कि अभी तक है, परन्तु मध्ययुगके जैसे यशस्वी कवि हिन्दीमें हुए, वैसे बहुत कम भाषाओंके मध्यकालीन साहित्योंमें हुए होंगे। हमारे सीखने-समझने केलिए इन कवियोंमें भी बहुत-कुछ है। विशेषकर तुलसीकी भाँति संत कवियों तथा भूषणकी भाँति वीर कवियोंमें भाषाका वह देसीपन है, जो

हम अभीतक अपने काव्यकी भाषामें नहीं उत्पन्न कर सके। हमारी कविता की भाषा उन कवियोंकी वाणीकी भाँति जनताके कंठमें नहीं बसी। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हमारे युगकी आयु अभी ३०-३५ वर्षकी ही है तथा इस युगमें कविताके अतिरिक्त साहित्यके अन्य अंगोंका भी विकास हुआ है। आधुनिक कविताकी प्रगतिको देखते हुए हम कह सकते हैं कि जब हमारे देशमें पूरी तरह आधुनिक युग आवेगा और हम अन्य उन्नत देशोंके साथ कन्धा मिलाकर चल सकेंगे, तब हमारे मध्यकालीन साहित्य की भाँति हमारा आधुनिक साहित्य भी विश्वके आधुनिक साहित्यमें अन्यतम स्थान पा सकेगा।

इस युगकी हिन्दी कवितामें दो प्रधान धाराएँ रही हैं। एक तो श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा हरिऔधजीवाली पुरानी परिपाटीकी तथा दूसरी प्रसाद और पंतजीवाली छायावादी प्रणालीकी। इनके पश्चात् एक नयी धारा आजकल धीरे-धीरे बनरही है, जिसे अभी 'प्रगतिशील' कहलते हैं। इन धाराओंने हिन्दी भाषा तथा साहित्यको पुष्ट किया है। यद्यपि वे कभी-कभी एक-दूसरेका विरोध करती दिखायी देती हैं, परन्तु उन्होंने अनेक प्रकारसे भावकी व्यंजना-शक्तिको बढ़ाया है अथवा कवि-भावनाको प्रसार दिया है। इन धाराओंके पहले जो साहित्यकी परम्परा स्थापित होचुकी थी अथवा होरही थी, वह नगण्य नहीं है। भारतेन्दु-युगमें ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं, जिनसे आधुनिक साहित्यको जोड़कर एक परम्परा स्थापित करने से लाभ होगा। भारतेन्दु-युगमें जो गद्य लिखागया, उसमें भाषाकी एक विभिन्न सजीवता थी, जो पीछेके परिमार्जित गद्यमें कम मिलती है। प्रतापनारायण मिश्र जैसे लेखक धड़ल्लेसे ग्रामीण प्रयोगोंको अपनाते थे, और इसीलिए उनकी भाषामें अधिक प्रवाह और जीवन है। उनकी भाषा, मालूम होता है, बैसवाड़ेकी धूलिमें खेली है; आजके लेखकोंकी भाषा, मालूम होता है, मुँहमें क्रीम लगाकर आई है। गद्यमें ही नहीं, उस काल के पद्यमें भी इस सजीवताके चिह्न मिलते हैं। यद्यपि पद्यकी भाषा ब्रजभाषा थी फिरभी जैसे जन-संपर्कके चिह्न उस कालकी बहुत-सी कविताओं में मिलते हैं, वैसे आजकी कवितामें कम। उस समयके राजनीतिक वातावरणकी कल्पना कीजिए, उस समयकी कांग्रेसकी नीतिका विचार कीजिए, और तब प्रतापनारायण मिश्रकी ये पंक्तियाँ देखिए—

बहुतेरे जन द्वार-द्वार मंगन बनि डोलहिं।
तनिक नाज हित दीन बचन जेहि तेहि ते बोलहिं॥
बहुत लोग परदेस भागि अरु भागि न सकहीं।
चोरो चंडाली करि बंदीगृह पथ तकहीं॥
पेट अधम अनगिनतिन अकरम करम करावत।
दारिद दुरगन पुंज अमित दुख हिय उपजावत॥
यह जिय धरकत यह न होइ कहुँ कोइ सुनि लेई।
कछू दोप दै मारहिं अरु रोवन नहिं देई॥

भारतेन्दु बाबूकी कवितामें भी इसी प्रकारके सजीव वर्णन मिलेंगे। उनकी राजनीतिक उग्रता किस सीमा तक पहुँचचुकी थी, यह आप उनकी एक पहेलीसे जान सकते हैं—

भीतर भीतर सब रस चूसै,
बाहर से तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज,
क्यों सखि साजन, नहिं अंग्रेज।

देशकेलिए भारतेन्दुकी मंगलकामनाएँ कहीं-कहीं बड़े सरल ढंगसे व्यक्त हुई हैं, जैसे उनके—"खल गनन सों सज्जन दुखी नहिं होइ, हरिपद मति रहै" छन्दमें। उस परम्पराके कवियोंमें ऐसी ही सरलता, परन्तु सरलता के साथ तन्मयता भी, मिलती है। श्रीधर पाठककी ये पंक्तियाँ कितनी सरल हैं—

बंदनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बांधवता में बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हों।
निंदनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अज्ञानी हों।
सब प्रकार परतंत्र, पराई प्रभुता के अभिमानी हों।

इन कवियोंकी सरलता ग्रामीणतासे मिलती-जुलती है, परन्तु अपनी अलंकारशून्यताके भीतर वह उतनीही सबल है। सत्यनारायण कविरत्न, राय देवीप्रसाद पूर्ण आदिकी देश-सम्बन्धी कविताएँ इसी परिपाटीकी हैं। देवीप्रसाद पूर्ण कवितामें खड़ीबोली अपनानेके विरोधी थे, परन्तु खड़ीबोलीमें उन्होंने स्वयं कविता की थी। स्वदेशीके आन्दोलनसे प्रभावित होकर

उन्होने 'स्वदेशी कुंडल' लिखा था। उसे और 'भारत-भारती' को एकसाथ मिलाकर पढ़नेसे इस परिपाटीकी सजीवता और उसके अटूट क्रमका पता चल जायगा। पूर्णजीने गाढ़ेपर लिखा था—

गाढ़ा, झीना जो मिलै उसकी हो पोशाक
कीजै अंगीकार तौ रहै देश की नाक
रहै देश की नाक स्वदेशी कपड़े पहने
हैं ऐसे ही लोग देश के सच्चे गहने
जिन्हें नहीं दरकार चिकन योरप का काढ़ा
तन ढकने से काम गजी होवै या गाढ़ा

आजके राजनीतिक दृष्टिकोणसे उस समयकी कवितामें बहुत-सी बातें हमें अच्छी न लगेंगी, परन्तु भाषाकी यह सरलता तो ईर्ष्याकी वस्तु है; उसे हमारा आदर्श होना चाहिए। यह भी ध्यान देने योग्य है कि स्वदेशीके समर्थक होतेहुए भी पूर्णजी मशीनके विरोधी न थे। उन्होंने लिखा था—

भरतखंड! कल बिना तुझे, हा, कैसे कल है?

कविताकी यह परम्परा श्री मैथिलीशरण गुप्तकी 'भारत-भारती' में भलीभाँति विकसित हुई है और श्री सोहनलाल द्विवेदी जैसे आधुनिक कवियोंमें वह पायी जाती है। इस परंपराकी विशेषता यह है कि वह पुस्तकों के दर्शनशास्त्रसे दूर है। वह बहुधा विशेष अवसरोंकेलिए, विशेष परिस्थितियोंसे प्रभावित होकर लिखी जाती है। इसीलिए उसमें एक नैसर्गिकता है, जो पुस्तकोंसे प्रभावित कवितामें नहीं मिलती।

इसी परम्पराके अन्तर्गत वह कविता आती है, जो पौराणिक कथाओं आदिपर लिखी गई है। श्री मैथिलीशरण गुप्तका 'जयद्रथ वध' इसका एक लोकप्रिय उदाहरण है। पौराणिक कथाओंने साहित्य और जनताके सम्पर्कको बनाए रखा है। ऐसीही वे सब रचनाएँ हैं, जिनका सम्बन्ध ऐतिहासिक विषयोंसे है। प्रबन्ध-काव्यकी परम्परासे छायावादी कवि भी प्रभावित हुए हैं, और छायावादी परम्परासे प्रबन्ध-काव्यके कवि। गुप्तजी के 'साकेत' और 'जयद्रथ वध' को एकसाथ पढ़नेपर दोनोंका अन्तर स्पष्ट होजायगा। 'जयद्रथ वध' तब लिखागया जब छायावादी प्रणालीका विकास

नहीं हुआ था। 'साकेत' पर छायावादकी पूरी छाया है, उर्मिलाकी करुणा छायावादकी उपज है। पुरानी परम्पराका शायद सबसे विकृत स्वरूप समस्यापूर्तिवाला है। परन्तु आजकलके मासिक-पत्रोंमें जो नब्बे सैंकड़ा रोनी कविताएँ भरी रहती हैं, उनसे 'सुकवि' की समस्या-पूर्तियाँ मेरी समझमें लाख दर्जे अच्छी हैं। छायावादका विकृत रूप और पुरानी दरबारी कविता का विकृत रूप दोनोंही बुरे हैं, परन्तु इसे कौन अस्वीकार करेगा कि समस्या-पूर्तिवाली परम्परा जनताके अधिक निकट थी? समस्या-पूर्तिवाली कविताकेलिए कोई यह नहीं कहेगा कि वह कवि-हृदयसे बरबस फूट निकली है; परन्तु उसमें मनोरञ्जन अवश्य है। साधारण जनोंको समस्यापूर्तिमें चमत्कार दिखाई देता है और यह चमत्कार इस प्रकारकी कविताको लोकप्रिय बनाता है। हमें समस्यापूर्तिवाली कवितामें विश्व-वेदनाकी मूक झन्कार सुननेकेलिए उत्सुक न रहना चाहिए; उसे तो हम किसीभी मासिक-पत्रमें सुन सकते हैं। हमें उसके बारेमें केवल इतना स्वीकार करलेना चाहिए कि वह बहुतसे ऐसे काम कर सकती है जो विश्व-वेदनावाली कविता नहीं कर सकती।

समस्यापूर्ति उसी परम्पराका दूसरा छोर है, जिसके एक छोरपर 'भारत-भारती' है। यह परम्परा व्यक्तिवादकी परम्परा नहीं है; इस कविता में कवि-हृदयकी व्यक्तिगत भावनाओंकी प्रधानता नहीं है। कविकी भावधाराका केन्द्र वह स्वयं नहीं है; उसकी कविताका केन्द्र जनता है। भारतेन्दु-युगमें लोग विशेष अवसरोंकेलिए कविता लिखना पसन्द करते थे, जैसे स्वयं भारतेन्दुने मिश्रमें भारतीय सैनिकोंकी विजयपर कविता लिखी थी और उसे एक भरे हॉलमें पढ़ा था। प्रेमघनजीने दादाभाई नौरोजीके काले कहे जानेपर कविता लिखी थी। विशेष राजनीतिक अवसरोंकेलिए कविता लिखनेसे साहित्य और राजनीति निकट रहते हैं। परन्तु छायावादी परम्परा ने इस परम्पराको बदल दिया है। हम कविताको कवि-हृदयका नैसर्गिक उद्रेक समझते हैं; इसलिए यह नहीं चाहते कि कवि अपनी सरस्वतीको प्रेरित करे। हम धैर्यपूर्वक उस नैसर्गिक उद्रेककी बाट जोहनेकेलिए तैयार रहते हैं। अधिकांशतः जब कवि-हृदयमें भावना उमड़ती है तो वह उसके व्यक्तित्व अथवा अहङ्कारको लेकर। राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियोंसे जैसे उसका कवि-हृदय उमड़ता ही नहीं है। यदि उमड़ता भी है तो

इसलिए कि उनसे उसके अहङ्कारका सम्बन्ध है। सामाजिक परिस्थितियोंके प्रति उसका विद्रोह भी करुण-रसमें भीगकर निकलता है।

एक ओर सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, दूसरी ओर अपना अहङ्कार लिये मध्यवित्त श्रेणीका नवयुवक कवि है। दोनोंके मेलसे अतृप्त पिपासाका जन्म होता है, और यह अतृप्त पिपासा ही विश्ववेदना बनजाती है। नवयुवक कवि उसे आध्यात्मिक रूप देदेता है। एक आधुनिक कविने अपनी कविता-पुस्तककी भूमिकामें इस व्यापारका समर्थन किया है। समर्थनके साथ उसने विश्ववेदनाके सारे मनोविज्ञानको भी स्पष्ट करदिया है। कविने लिखा है—

"आज यदि सामाजिक बन्धनोंके कारण एक नौजवान या नवयुवती अपने स्नेहपात्रको प्राप्त नहीं कर सकते और यदि वे वियोग और बिछोहके हृदयग्राही गीत गाउठते हैं, तो यह न समझिए कि यह केवल उन्हींकी वेदना है जो यों फैल पड़ी है—यह वेदना तो समूचे संस्कृत हृदयोंका चीत्कार है······कवियोंका प्रत्यक्षमें केवल आधिभौतिक दिखाई देनेवाला दुःखवाद वास्तवमें आध्यात्मिक है— आजकी कवितामें रोदन और गायनका समन्वय होरहा है।"

इस आधुनिक कविने रोदन और गायनके समन्वयसे हिन्दी कविता भाण्डारको भरनेका व्रत ठाना है। जो नवयुवक और नवयुवती अपने स्नेहपात्रोंको नहीं पाते, उनकी वेदना कविकेलिए समूचे संस्कृत हृदयोंका चीत्कार बनजाता है; मानो इस प्रकारका चीत्कार करना भी संस्कृतिका एक लक्षण हो। इस दुःखवादको वह आध्यात्मिक भी बताता है, यद्यपि उसका कारण नवयुवक और नवयुवतीका न मिल सकना ही है। छायावादके विकृत रूपमें हमें यह न मिल सकनेसे पैदाहुआ आध्यात्मवाद ही पढ़नेको मिलता है। कविताकेलिए यह कहना कि वह रोदन और गायनका समन्वय है, उसकी पर्याप्त आलोचना है; यदि इसपर भी कोई उसका समर्थन करे तो वह आलोचनाके परे होजाता है।

ऐसे छायावादी कविकेलिए यह आवश्यक होजाता है कि वह पुरानी परम्पराका विरोध करे। वह अपनी कविताको भीड़भाड़से जैसे बचाना चाहता है। कविताको जनता तक लानेका सहज साधन कवि-सम्मेलन है। कवि-सम्मेलनमें कविकी वाणी सुनकर पाठकके हृदयमें तुरन्त एक प्रति-

क्रिया होती है और वह प्रतिक्रिया कवि-तक पहुँचती है। इसमें सन्देह नहीं कि साधारण श्रोताओंमें धैर्य और विचार-शक्तिका अभाव होता है और कविताके चरम उत्कर्षको ग्रहण करना उनकेलिए प्रायः असम्भव होता है। परन्तु इसके साथही पुस्तकमें कविका कण्ठ-स्वर पाठक तक नहीं पहुँचता; बहुत-सी बातें कवि अपने स्वरसे प्रकट कर सकता है जो श्रोता जान सकता है पाठक नहीं। यह कहना कि कविता केवल मनमें पढ़ी जाय और कविके स्वरको उससे दूर रखा जाय, श्रोताओंके साथ अत्याचार करना है। बहुतसे लोगोंको 'रामकी शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' निरालाजीके मुँहसे सुनकर बहुत-कुछ आनन्द आजाता है; वैसे उन्हें छपीहुई देखकर वे उनसे दूर भागते हैं। हमारे कवि-सम्मेलनोंमें एक ओर बच्चनजीके सरल गीत गाये जाँय और दूसरी ओर 'तुलसीदास' और 'रामकी शक्तिपूजा' जैसी कठिन कविताएँ पढ़ी जाँय, और दोनोंसे ही जनताका न्यूनाधिक मनोरञ्जन होजाय, इसे हिन्दी कविताकेलिए एक बहुतही शुभ लक्षण समझना चाहिए। शेक्सपियरके समयमें नाटको द्वारा कविता जनताके सम्पर्कमें आती थी, इसलिए उसमें वह सजीवता है, जो बादके अँग्रेज़ी साहित्यमें बहुत कम है। यदि शेली, कीट्स या टेनीसन भी किन्हीं कवि-सम्मेलनोंमें अपनी कविताएँ सुनाते, तो निश्चय उनकी अनेक निर्बलताएँ कम होजातीं।

ऊपर जिस आधुनिक कविका उल्लेख हो चुका है, उसीकी भूमिका से कवि-सम्मेलनोंके प्रति छायावादी दृष्टिकोण देखिए। कविका कहना है—

"हिंन्दी भाषाकी कविताके सम्बन्धमें विचार व्यक्त करते समय हमारे सामने कवि-सम्मेलनोंकी संस्था आकर भटकने लगती है......तहसील राजनैतिक कॉन्फ्रेंस होनेको है तो कवि-सम्मेलन भी उसके साथ नत्थी है, ज़िला राजनैतिक सभा है तो वहाँ भी कवियोंका जमाव मौजूद है...... स्वामी दयानन्दकी निर्वाण-तिथीका उत्सव है तो वहाँ ज्वान लोग हाँक रहे हैं लंतरानी; कृष्णाष्टमी, रामनवमी, दशहरा, दिवाली, होली, हर त्यौहारपर, कवि-सम्मेलनकी योजना मौजूद है। गोया जनाब, कवि-सम्मेलन क्या हैं, एक बवाले जान हैं!"

कवि महोदयने इन कवि-सम्मेलनोंकी इस प्रकार भर्त्सना कर एक अखिल भारतीय हिंदी कवि-सम्मेलनका प्रस्ताव किया है। उनकी दृष्टिमें 'हिंन्दी भाषाको विश्व-वेदनाकी वाणी' बनना है और विश्व-वेदनाकी

वाणी सुननेकेलिए यदि एक विश्व-कवि-सम्मेलन स्थापित न होसके तो अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन तो स्थापित हो ही जाना चाहिए।

कवि सम्मेलनोंमें सुरुचि और संस्कृतिका अधिक विकास होना चाहिए, परन्तु इसकेलिए उनकी संख्यामें कमी करनेकी आवश्यकता नहीं। राजनीतिक कॉन्फ़रेन्सों और त्योहारोंमें यदि कवि-सम्मेलन होते हैं तो बुरा क्या है? हमारे सामाजिक जीवनके प्रत्येक अङ्गसे कविता क्यों न निकट सम्पर्कमें आवे? कविका कर्तव्य है कि वह सामाजिक विकासमें सहायता दे, समाजके विभिन्न अङ्गोंको सुरुचि और संस्कृतिकी ओर विकसित करनेके लिए लोगोंको प्रभावित करे। हमें यह न भूलना चाहिए कि उच्च कोटि की कविता जन-संपर्कसे दूर रहकर नहीं पनप सकती। गुलाबका फूल धरती से अलग हवामें नहीं खिलता, उसकेलिए मिट्टी, पानी, हवा, सभीकुछ चाहिए। तभी उसमें रूप और गन्धका विकास होता है।

मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि लोकप्रिय कविता केवल कवि-सम्मेलनोंमें होती है अथवा कवि-सम्मेलनोंमें होनेवाली सभी कविता लोकप्रिय होती है। श्री मैथिलीशरण गुप्त कवि-सम्मेलनोंसे दूर रहते हैं, परन्तु वे हमारे लोकप्रिय कवियोंमेंसे हैं। कवि-सम्मेलनोंमें ऐसी कविता भी लोकप्रिय होसकती है जो सामाजिक दृष्टिसे हानिकर हो—परन्तु जो स्वरकी मिठासके कारण श्रोताओंको मुग्ध करदे और वे मदक के-से नशेमें आजाँय। बच्चनजीके गीत अत्यन्त लोकप्रिय हैं, परन्तु वे एक पतनोन्मुख परम्पराके अन्तिम गीत हैं। उन स्वरोंका न दुहराया जाना ही समाजकेलिए हितकर है। यह नयी परम्परा जो आज पतनोन्मुख दिखाई देती है, प्रसादजीसे आरम्भ हुई थी। प्रसादजीका 'आँसू' हिन्दीकी वेदना-धाराका उद्गम है। वैसे तो व्यक्तिवादी कविकेलिए सामाजिक सङ्घर्षसे दूर भागकर एक काल्पनिक स्वर्ग बनाने अथवा विषादकी ही उपासना करनेके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं रहता; फिरभी नवयुगके व्यक्तिवादी अथवा छायावादी कवियोंने हमारी संस्कृति तथा दृष्टिकोणको उदार बनाया है। परम्पराके प्रति यदि विद्रोह न हो तो वह स्वच्छ साहित्यकी सरस्वती न बने। इन पिछले बीस-तीस वर्षोंमें हिन्दीमें नवीन और पुरातन दोनों धाराएँ प्रवाहित रही हैं और उनका एक-दूसरेपर शुभ हो प्रभाव पड़ा है। आधुनिक हिन्दी कवितामें हमें विभिन्न संस्कृतियोंका समन्वय मिलता है।

गुप्तजीका 'गुरुकुल' देखिए, निरालाजीकी सिक्खोंपर 'समरमें अमर कर प्राण' वाली कविता देखिए और प्रसादजीके बौद्धकालीन नाटक देखिए और विभिन्न संस्कृतियोंकी एकता स्पष्ट होजायगी। प्रसादजीने हिन्दी कविता में पुरानी भारतीय संस्कृतिको पुनर्जीवित किया है। प्रसादजीका व्यक्तित्व करुणा और प्रेमके सन्देशमें अधिक व्यक्त हुआ है, 'आँसू' की वेदनामें कम। उनके नाटकों और 'कामायनी' के आगे 'आँसू' बहुत छोटा लगता है, परन्तु जैसे कभी-कभी छोटे तालोंसे बड़ी-बड़ी नदियाँ निकलती हैं; वैसेही 'आँसू' से एक वेदना-धारा उमड़ पड़ी। प्रसादजीके बौद्ध तथा आर्य संस्कृतिके समन्वयको लोग भूलगये। प्रसादजीकी करुणा करुण-रस नहीं है; उनके नाटकोंमें प्रेमके सन्देशके साथ संघर्ष भी है।

प्रसादजीसे मिलती-जुलती पन्तजीकी विश्वबन्धुत्वकी भावना है। वे सदासे विश्वमैत्रीसे पूर्ण एक सुन्दर संसारकी कल्पना करतेरहे हैं। उन के प्रगतिवादसे भी उनके काल्पनिक संसारके सौन्दर्यमें कमी नहीं हुई। निरालाजी अद्वैतवादी हैं और साथही पन्त और प्रसादसे बढ़कर व्यक्ति अथवा व्यक्तित्ववादी। व्यक्तिवाद पन्त और प्रसादमें भी है, परन्तु उस व्यक्तिवादमें सबल व्यक्तित्वने कहीं जगह नहीं पायी। निरालाजीका अद्वैत-वाद चाहे जितना विशद हो, परन्तु उसमें उनका व्यक्तित्व अथवा अहं नहीं खो सकता। बहुत पहले 'मतवाला' में उन्होंने लिखा था—

मेरा अन्तर वज्र कठोर
देना जी भरसक झकझोर

और 'परिमल' की एक कवितामें उनका अद्वैत अहम्का ही एक विक-सित-रूप जान पड़ता है—

तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज-भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार

निरालाजीके इसी अहंका चित्रण हमें 'रामकी शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' में भी मिलता है। 'तुलसीदास' का मानसिक संघर्ष और

उनके विद्रोही प्राण जो 'ज्ञानोद्धत प्रहार' करते हैं, गोस्वामी तुलसीदासके नहीं हैं; तुलसीदास और राम दोनो ही कवि निरालाके दो रूप हैं। ऐसा उद्धत व्यक्तित्व मुझे अन्य किसी साहित्यके व्यक्तिवादी अथवा रोमैंटिक कवि में देखनेको नहीं मिला। परन्तु यह व्यक्तित्व एक व्यक्तिवादीका है, और उद्धत है, इसीलिए उसके साथ उसकी छायाकी भाँति विषाद भी है। व्यक्तित्वमें उच्छृङ्खलता प्रधान है, सामाजिक विकाससे उसका कम सहयोग है, इसीलिए विषाद उसके साथ है।

जिन कवियोंमें यह व्यक्तित्व नष्टप्राय है, उनकी कवितामें केवल विषाद है। हिन्दीके अनेक कवियोंने आत्मघातपर बड़ी सुन्दर रचनाएँ की हैं। जैसे—

अपने पर मैं ही रोता हूँ,
मैं अपनी चिता सँजोता हूँ,
जल जाऊँगा अपने करसे रख अपने ऊपर अंगारे!

कवि भी मनुष्य है और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः समाजको उसके इस कृत्यपर बहुत प्रसन्नता नहीं हो सकती। यह छायावादका अति विकृत रूप है, जब व्यक्तिवादी परिस्थितियोंसे हारकर अपने व्यक्तित्वको ही नष्ट करलेना चाहता है।

हिन्दीमें प्रगतिशीलताका आन्दोलन नया है, परन्तु जैसे फ़ौजमें २५–२६ सालके नौजवान न मिलनेपर १७–१८ सालके ही भर्ती करलिये जाते हैं—किन्हीं-किन्हीं देशोंमें स्त्रियोंकी भी भर्ती होती है—वैसेही प्रगतिशील कवियोंमें बहुतसे वेदनावादी और छायावादी भी भर्ती होगये हैं। पुराना अभ्यास देरमें छूटता है; उर्दी बदलनेसे सिपाही थोड़ेही बदलजाता है! आजकलकी प्रगतिशील कविताका अधिकांश भाग विकृत छायावादी कविता से किसी तरह भी बढ़कर या घटकर नहीं है। कुछ लोगोंकी मानव सम्बन्धी करुण कविता छायावादी वेदनाका रूपान्तर है। कभी-कभी समझमें नहीं आता कि सहानुभूतिके आवेशमें प्रगतिशील कवि किसानपर आँसू बहा रहा है या अपने ऊपर। बहुत-सी छायावादी कविता भी प्रगतिशीलताकी मुहर लगाकर सामनेसे निकल जाती है, इसलिए कि वह किसी विशेष कवि द्वारा लिखीगयी है अथवा किसी विशेष पत्रमें छपी है। प्रगतिशीलतामें

छायावादकी सृष्टि भी कम मनोरञ्जक नहीं है अर्थात् छायावादके आलम्बन और स्थायी-सञ्चारी भाव आदि प्रगतिशील कवितामें भी मिलेंगे। इसका एक अति सुन्दर उदाहरण एक प्रगतिशील कहानीमें देखनेको मिला था। कहानीमें हँसिया-हथौड़ेका उल्लेख था, परन्तु हथौड़ेको चिरन्तन पुरुष कहागया था और हँसियाको प्रकृति। पन्तजीने कार्लमार्क्सपर भी कविता लिखी है और गाँधीजीपर भी। मूलतः दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। मार्क्स गाँधीवादी है और गाँधीजी मार्क्सवादी, और दोनों ही छायावादी हैं।

अभी छायावादी युगका अन्त नहीं हुआ; नवीन कवियोंके दृष्टिकोणमें पूरा परिवर्तन नहीं हुआ। उनकी सबसे बड़ी निर्बलता यह है कि उनकी भावनाओंका आधार पुस्तकें हैं, जनता नहीं है। उनके भीतर अत्यधिक तटस्थता है; प्रेमचन्दकी भाँति उन्होंने अपने आपको जनताके बीच नहीं पाया। पन्तजीने इस बातको 'ग्राम्या' में स्वीकार किया है। 'ग्राम्या' की रचनाओंकेलिए उन्होंने कहा है—"इनमें पाठकोंको ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम-जीवनमें मिल कर उसके भीतरसे ये अवश्य नहीं लिखीगयीं हैं।" ऐसी स्पष्टता अन्य कवियोंमें कम देखनेको मिलती है, परन्तु पन्तजीने बौद्धिक सहानुभूतिका समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है—"ग्रामोंकी वर्तमान दशामें वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्यको जन्म देना होता।" यदि गाँववालोंमें घुलने-मिलनेका अर्थ उनके कुसंस्कारों तथा अंधविश्वासको अपनाना है तो कविता अवश्य प्रतिक्रियात्मक होगी, परन्तु यदि घुलने-मिलनेसे अर्थ उनकी वास्तविक दशाका ज्ञान करना है तो कविताका प्रतिक्रियात्मक होना आवश्यक नहीं। 'ग्राम्या' की एक कवितामें पन्तजीने यह भी लिखा है:—

"देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से।"

पन्तजीके सुन्दर नेत्रोंको ग्रामीण मान लेनेसे इस कविताको प्रतिक्रियात्मक मानना पड़ेगा। कुछ लोग इस प्रगतिशील आन्दोलनसे निराश होगये हैं और समझते हैं कि शेली और रवीन्द्रनाथवाली कविताका तो अन्त होगया है। इस मशीन-युगमें कविताके लिए ठौर कहाँ? परन्तु अभी हमारे यहाँ मशीन-युग पूरी तरह आया कहाँ है? अभी भारतवर्षमें नये उद्योग-धंधोंका पूरा बोलबाला नहीं हुआ। इन हताश कविता-प्रेमियोंको आशा रखनी चाहिए कि आगे अभी बहुत-सी निराशावादी कविता होगी,

क्योंकि मशीन-युगकी बर्बरताका पूर्ण विकास होनेपर अनेक कवि अपने लिए कहीं काल्पनिक स्वर्ग बनायेंगे और वे छायावादी कविताको चिरजीवी नहीं तो पुनर्जीवी अवश्य करेंगे। परन्तु जिन्हें देश और साहित्यसे प्रेम है, वे इस नयी बर्बरताकी ललकारको स्वीकार करेंगे और उससे युद्ध कर विजयी होंगे।

आजके हिन्दी कविकेलिए विकास-पथ खुला हुआ है। छायावादी कवियोंने भाषाकी व्यञ्जना-शक्तिका विस्तार किया है, उन्होंने छंदोंमें नये परिवर्तन किये हैं और अपनी कवितामें नये-नये ढङ्गकी गतिको जन्म दिया है। नये कविकेलिए पुरानी परम्परासे सीखनेको बहुतकुछ है। उसके सामने ऐसे आदर्श हैं, जिनसे वह सीख सकता है, जनताकेलिए किस प्रकार का साहित्य लिखना चाहिए और कैसे लिखना चाहिए। पुस्तकोंकी विद्या की उसे कमी नहीं। उसमें केवल लगन और सचाई होनी चाहिए। जनता से सच्ची सहानुभूति ही नहीं, जनताका निकटसे ज्ञान भी होना चाहिए। भारतेन्दुसे लेकर आजतककी हिन्दी कविताका विकास अति तीव्र गतिसे होतारहा है। साहित्यके एक विशद प्रवाहमें काव्य-धाराओंकी गति एक-सी अथवा एक ही ओरको नहीं रही। परन्तु उस विशद प्रवाहकी प्रगति स्पष्ट है। वह हमें बल और विजयके निकट लाया है। पुरानी तथा नयी, दोनों ही परम्पराओंके कवियोंमें दोष रहे हैं, परन्तु उनसे साहित्यको जो लाभ हुआ है, उसके सामने हानि नगण्य है। नवसन्ततिके कवि तबतक हिन्दी-कविताको नवीन प्रगति न दे सकेंगे, जबतक उन्हें अपने पूर्ववर्ती काव्य-साहित्यका, अपनी परम्पराका ज्ञान न होगा। अपने पूर्ववर्ती कवियोंसे हम जितनी बातें ले सकें, हमें लेनी चाहिए; उन बातोंमें जब हम अपनी नयी बातें जोड़ेंगे, तभी ठीक-ठीक काव्य-साहित्यका विकास सम्भव होगा।

छायावादकी परिभाषा

आजसे बीस पचीस वर्ष पूर्व युगकी उद्‍बुद्ध चेतनाने बाह्य अभि-व्यक्तिसे निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावादके रूपमें अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियोंने हमारी कर्म-वृत्तिको अहिंसाकी ओर प्रेरित किया उन्हींने भाव-वृत्तिको छायावादकी ओर। उसके मूलमें स्थूलसे विमुग्ध होकर सूक्ष्मके प्रति आग्रह था।

पिछले महासमरके उपरान्त योरॅपके जीवनमें एक निस्सार खोखला-पन आगया था। जीवनके प्रति विश्वास ही नष्ट होगया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभवके होतेहुए भी जीवनमें एक स्पन्दन था। भारतकी उद्‍बुद्ध चेतना युद्धके बाद अनेक आशाएँ लगाये बैठी थी। उसमें स्वप्नोंकी चञ्चलता थी। वास्तवमें भारतकी आत्म - चेतनाका यह किशोर काल था जब अनेक इच्छा-अभिलाषाएँ उड़नेकेलिए पङ्ख फड़फड़ारही थीं। भविष्यकी रूप-रेखा नहीं बनपायी थी, परन्तु उसके प्रति मनमें इच्छा जगगयी थी। पश्चिमके स्व-च्छन्द विचारोंके सम्पर्कसे राजनीतिक और सामाजिक बन्धनोंके प्रति असन्तोषकी भावना मधुर उभारके साथ उठरही थी, भलेही उनको तोड़नेका निश्चित विधान अभी मनमें नहीं आरहा था। राजनीतिमें ब्रिटिश साम्राज्यकी अचल सत्ता और समाजमें सुधारवादकी दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओंको बहिर्मुखी अभिव्यक्तिका अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे - धीरे अवचेतनमें जाकर बैठरही थीं, और वहाँसे क्षति - पूर्तिकेलिए छाया - चित्रोंकी सृष्टि कररही थी। आशाके इन स्वप्नों और निराशाके इन छाया-चित्रोंकी काव्यगत समष्टिही छायावाद कहलायी।

छायावादमें आरम्भसे ही जीवनकी सामान्य और निकट वास्तवि-कताके प्रति एक उपेक्षा : एक विमुखताका भाव मिलता है। नवीन चेतनासे उद्दीप्त कविके स्वप्न अपनी अभिव्यक्तिकेलिए चञ्चल होरहे थे, परन्तु वास्त-विक जीवनमें उसकेलिए कोई सम्भावना नहीं थी, अतएव स्वभावतः ही उसकी वृत्ति निकट यथार्थ और स्थूलसे विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय, और सूक्ष्मके प्रति आकृष्ट होरही थी। भावनाएँ कठोर वर्तमानसे कुण्ठित

होकर स्वर्ण-अतीत आदर्श भविष्यमें तृप्ति खोजती थीं—ठोस वास्तवसे ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्नका संसार रचती थीं—कोलाहलके जीवन से भागकर प्रकृतिके चित्रित अञ्चलमें शरण लेती थीं—स्थूलसे सहमकर सूक्ष्मकी उपासना करती थीं। आजके आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तवको वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूपमें मानसिक कुण्ठाओंपर आश्रित होतेहुए भी प्रत्यक्ष रूपमें पलायन का रूप नहीं है। वास्तवपर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देनेकी यह प्रवृत्ति ही छायावादकी मूल - वृत्ति है। उसकी सभी अन्य प्रवृत्तियोंकी इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्तिके आधारपर व्याख्या की जासकती है।

—व्यक्तिवाद—

यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जिन विभिन्न रूपोंमें व्यक्त होती है उनमें सबसे मुख्य व्यक्तिवाद है। व्यक्तिवादके दो रूप हैं। एक, विषयपर विषयी की मनसाका आरोप अथवा वस्तुको व्यक्तिगत भावनाओंमें रँगकर देखना। दूसरा, समष्टिसे निरपेक्ष होकर व्यष्टिमें ही लीन रहना।

द्विवेदी युगकी कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। उसकी प्रतिक्रियामें छायावादकी कविता भावात्मक एव आत्मगत हुई। दूसरे उस कविताका विषय बहिरङ्ग सामाजिक जीवन था : द्विवेदी युगका कवि बहिर्मुख होकर कविता लिखता था। छायावादको कविताका विषय अन्तरङ्ग व्यक्तिगत जीवन हुआ : छायावादका कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्तिभाव प्रसादमें आनन्दभाव, निरालामें अद्वैतवाद, पन्तमें आत्मरति और महादेवीमें परोक्षरतिके रूपमें प्रकट हुआ।

—शृङ्गारिकता—

अन्तर्मुखी प्रवृत्तिकी दूसरी अभिव्यक्ति है शृङ्गारिकता। छायावादकी कविता प्रधानतः शृङ्गारिक है, क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुण्ठओंसे और व्यक्तिगत कुण्ठाएँ प्रायः कामके चारोंओर केन्द्रित रहती हैं।

स्वच्छन्द विचारोंके आदानसे स्वतन्त्र प्रेमके प्रति समाजमें आकर्षण बढ़रहा था, परन्तु सुधार-युगकी कठोर नैतिकतासे सहमकर वह अपनेमें ही कुण्ठित रहजाता था। समाजके चेतन मनपर नैतिक आतङ्क

अभी इतना अधिक था कि इस प्रकारकी स्वच्छन्द भावनाएँ अभिव्यक्ति नहीं पासकती थीं। निदान वे अवचेतनमें उतरकर वहाँसे अप्रत्यक्ष रूपमें व्यक्त होती रहती थीं। और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारीका अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृंगार।

छायावादका यह अतीन्द्रिय शृंगार दो प्रकार व्यक्त होता है। एक तो प्रकृतिके प्रतीकों-द्वारा : प्रकृतिपर नारी-भावके आरोप द्वारा। दूसरे नारीके अतीन्द्रिय सौन्दर्य द्वारा अर्थात् उसके मन और आत्माके सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीरके अमांसल चित्रण-द्वारा।

छायावादमें शृंगारके प्रति उपभोगका भाव न मिलकर, विस्मयका भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावादका कवि प्रेमको शरीरकी भूख न समझकर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारीके अङ्गोंके प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतङ्कसे सहमकर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहलमें परिणत होगया है। इसी कौतूहलने छायावादके कवि और नारी व्यक्तित्वके बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डालदिये हैं; और वास्तवमें छायावादके झिलमिल काव्य-चित्रोंका मूल उद्गम ये ही झिलमिल पर्दे हैं। उसके वायवी रूप-रंगका वैभव इन्हींसे उत्कीर्ण होता है और इन्हींपर आश्रित होनेके कारण छायावाद की काव्य-सामग्रीके अधिकांश प्रतीक काम-प्रतीक हैं।

—प्रकृतिपर चेतनाका आरोप—

छायावादमें प्रकृतिके चित्रोंकी प्रचुरता है। कुछ विद्वानोंकी तो यह धारणा है कि छायावादका प्राण-तत्त्व ही प्रकृतिका मानवीकरण, अर्थात् प्रकृतिपर मानव-व्यक्तित्वका आरोप, है।

यह सत्य है कि छायावादमें प्रकृतिको निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीपक वातावरण न मानकर ऐसी चेतन सत्ता माना है जो अनादि कालसे मानवके साथ स्पन्दनोंका आदान-प्रदान करतीरही है। परन्तु फिरभी प्रकृति पर मानव व्यक्तित्वका आरोप छायावादकी मूल प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि स्पष्टतः छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है। और इसका प्रमाण यह है कि छाया-वादमें प्रकृतिका चित्रण नहीं है वरन् प्रकृतिके स्पर्शसे मनमें जो छाया-चित्र उठें उनका चित्रण है।

जो प्रवृत्ति प्रकृतिपर मानव व्यक्तित्वका आरोपण करती है, वह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है, वह मनकी कुण्ठित वासना ही है जो अवचेतनमें पहुँचकर सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक प्रतीकोंके द्वारा अपनेको व्यक्त करती है। निदान प्रकृतिका उपयोग यहाँ दो रूपोंमें हुआ है। एक कोलाहल-मय जीवनसे दूर शान्त स्निग्ध विश्राम - भूमिके रूपमें और दूसरे प्रतीक रूपमें। रूप, ऐश्वर्य और स्वच्छन्दता जो जीवनमें नहीं मिल सके वह प्रकृतिमें प्रचुर मात्रामें मिले, अतएव कविकी मनोकामनाएँ बार-बार उसीके मधुर अञ्चलमें खेलने लगीं और प्रकृतिके प्रति आकर्षण बढ़जानेसे स्वभावतः उसीके प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।

—मूल दर्शन—

जैसा सुश्री महादेवी वर्माने कहा है, छायावादका मूलदर्शन सर्वात्म-वाद है—प्रकृतिके अन्तरमें प्राण-चेतनाकी भावना करना सर्वात्मवादकी ही स्वीकृति है। उन्होंने वैदिक ऋचाओंसे समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृतिमें स्पन्दित जीवन-चेतनाकी पहचान भारतीय कवि केलिए नवीन न होकर अत्यन्त प्राचीन है—सनातनसे चली आरही है।

छायावादमें समस्त जड़-चेतनको मानव-चेतनासे स्पन्दित मानकर अङ्कित कियागया है, और इस भावनाको यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जायगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। परन्तु क्रमका भेद है। छायावादका कवि आरम्भसे ही सर्वात्मवादकी अनुभूतिसे प्रेरित नहीं हुआ है। उसकी प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओंमेंसे ही आयी है, सर्वात्मवादकी रहस्यानुभूतिसे नहीं, यह निर्विवाद है। इसे न मानना प्रत्यक्षका निषेध करना है। और इसका प्रमाण यह है कि पल्लव, नीहार, परिमल, आँसू आदिकी मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है।

आजके बुद्धिजीवी कविकेलिए वासनाको सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः सम्भव है, परन्तु आध्यात्मिक अनुभूतिका होना उसकेलिए सहज सम्भव नहीं है, और यह स्वीकार करनेमें किसीको भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गत युद्धके बाद जिन कवियोंके हृदयोंसे छायावादकी कविता उद्भूत हुई उनपर किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूतिका आरोप नही किया

जासकता। इसके अतिरिक्त उस अवस्थामें तो कोई विशेष परिष्कृति भी सम्भव नहीं थी—वह उन कवियोंका तारुण्य था जब मनकी सहज भावनाएँ अभिव्यक्तिकेलिए आकुल होरही थीं। बादमें प्रसाद या महादेवी भारतीय अध्यात्म-दर्शनके सहारे, अथवा पन्त देश-विदेशके भौतिक सर्वहितवादी दर्शनोंके आधारपर, उसे परिशुद्ध एवं संस्कृत भलेही करपाये हों, परन्तु आरम्भसे ही कोई दिव्य प्रेरणा उन्हें थी यह मानना असत्य होगा।

अतएव प्रकृतिपर मानवताका आरोप कम-से-कम आरम्भमें तो निश्चय ही अनुभूतिका तत्त्व न होकर अभिव्यक्तिका प्रकार था। शृंगार और स्वच्छन्दताकी भावनाएँ जिन्हें परिस्थितिके अनुरोधसे प्रकृत रूपमें अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं था, प्रकृतिके रूपकोंसे अन्योक्ति आदिके द्वारा व्यक्त होती थी। बस इसके अतिरिक्त उपर्युक्त प्रवृत्तिकी कोई भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं। सर्वात्मवादका बुद्धिद्वारा ग्रहण तो सहज सम्भव है परन्तु उसकी अनुभूतिकेलिए उस समय छायावादके किसी भी कविको चैलेञ्ज किया जासकता था। उस समय स्वच्छन्द छायानुभूतियोंसे छायावादका निर्माण होरहा था, जो एक विशिष्ट परिस्थितिमें विशिष्ट संस्कारके कवियोंकी जीवनके प्रति सहज प्रतिक्रिया थी, प्रगतिवादकी तरह किसी ठोस वज़नी बौद्धिक जीवन-दर्शनसे मनको टकरा-टकराकर प्रेरणा नहीं ली जारही थी।

यही बात रहस्यानुभूतिके विषयमें कही जासकती है। बहिरङ्ग-जीवनसे सिमटकर जब कविकी चेतनाने अन्तरङ्गमें प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएँ—जीवन और मरण सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा सम्बन्धी—काव्यमें आजाना सम्भव ही था; और वे आयीं। कुछ आध्यात्मिक क्षण तो प्रत्येक भावुकके जीवनमें आते ही हैं। अतएव छायावादकी रहस्योक्तियाँ एक प्रकारसे जिज्ञासाएँ ही हैं। वे धार्मिक साधनापर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिंतन और कहीं केवल मनकी छलनापर ही आश्रित हैं।

छायावादके ये ही मूल तन्तु हैं। इन्हींमें अभिन्न रूपसे गुँथाहुआ आपको विषादका नीला तन्तु भी मिलेगा जो असन्तोष और कुण्ठाका परिणाम है। परन्तु यह विषाद सन्ध्याकी कालिमा न होकर प्रत्यूषकी चित्रित नीहारिका है। इसमें घुमड़न है, पराजय नहीं। नीरजाके विषाद और निशा-निमन्त्रणके विषादकी तुलना मेरे आशयको स्पष्ट करदेगी। इसका कारण यह है कि

छायावादकी दुनिया अननुभूत दुनिया थी। बच्चनके समयतक आकर वह अधिक जीवन-गत (अनुभूत) होचुकी थी। अतः छायावादकी निराशा भी अननुभूत होनेके कारण श्रान्त और जर्जर नहीं होगई थी; वह स्पन्दित और स्फूर्त थी। छायावादके चिर-उपहसित पीड़ा-प्रेमका यही व्याख्यान है।

—भ्रान्तियाँ--

छायावादके विषयमें तीन प्रकारकी भ्रांतियाँ हैं।

पहला भ्रम उन लोगोंने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं करपाते। आरम्भमें छायावादका यही दुर्भाग्य रहा। उस समयके आलोचक इसी भ्रमका पोषण करतेहुए उसे कोसते रहे।

यद्यपि आज यह भ्रम प्रायः निर्मूल होगया है तोभी छायावादके कतिपय कवि और समर्थक छायावादके सुकुमार शरीरपरसे आध्यात्मिक चिंतनका मृगचर्म उतारनेको तय्यार नहीं हैं। रामकुमारजी आज भी कबीर के योगकी शब्दावलीमें अपने काव्यका व्याख्यान करते हैं। महादेवीजी की कविताके उपासक अब भी प्रकृति और पुरुषके रूपकोंमें उलझे बिना उसका महत्व समझनेमें असमर्थ हैं। यहाँतक कि स्वयं महादेवीजीने भी छायावादके ऊपर सर्वात्मवादका भारी बोझ लाददिया है।

इसके विरोधमें, जैसा मैंने अभी कहा, एक प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि छायावाद एक बौद्धिक युगकी सृष्टि है। उसका जन्म साधनासे—यहाँतक कि अखण्ड आध्यात्मिक विश्वाससे भी—नहीं हुआ। अतएव उसके रूपकों और प्रतीकोंको यथातथ्य मानकर उसपर रहस्य-साधना अथवा रहस्यानुभूतिका आरोप करना अनर्थ करना है, भ्रांतियोंका पोषण करना है।

दूसरी भ्रान्ति उन आलोचकोंकी फैलाई हुई है जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियोंका अध्ययन न करसकनेके कारण—और उन अपराधियोंमें मैं भी हूँ--केवल बाह्य साम्यके आधारपर छायावादको योरॅपके रोमैंटिक काव्य सम्प्रदायसे अभिन्न मानकर चले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है, और दोनोंकी परिस्थितियोंमें भी जागरण और कुण्ठाका मिश्रण है। परन्तु फिरभी यह कैसे भूला जासकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावादके पीछे असफल सत्याग्रह था वहाँ रोमैंटिक

योरॅपके पीछे फ्रान्सका सफल विद्रोह था जिसमें जनताकी विजयिनी सत्ताने समस्त जाग्रत देशोंमें एक नवीन आत्म-विश्वासकी लहर दौड़ादी थी। फल-स्वरूप वहाँके रोमानी काव्यका आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावादकी अपेक्षा वह निश्चियही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी था।

तीसरे भ्रमको जन्म दिया है आचार्य शुक्लने, जो छायावादको शैलीका एक तत्वमात्र मानते थे। उनका मत है कि विदेशके अभिव्यञ्जना-वाद, प्रतीकवाद आदिकी भाँति छायावाद शैलीका एक प्रकार-मात्र है।

इस भ्रमका कारण है शुक्लजीकी वस्तु सीमित दृष्टि जो वस्तु और अभिव्यंजनामें निश्चित अन्तर मानकर चलती थी। वास्तवमें उन दो चार इने-गिने सम्प्रदायोंको छोड़कर जो जानबूझकर शैली-गत प्रयोगोंको लेकर चले हैं कोई भी काव्यधारा केवल अभिव्यञ्जनाका प्रकार नहीं होसकती। जिन अभिव्यञ्जनावाद और प्रतीकवादका उन्होंने उल्लेख किया है वे भी शुद्ध टेकनीकके प्रयोग नहीं हैं: उनके पीछे भी एक विशिष्ट अनुकूल भाव-धारा और विचारधारा है। प्रत्येक सच्ची काव्यधाराकेलिए अनुभूतिकी अन्तर्प्रेरणा अनिवार्य्य है और जहाँ अनुभूतिकी अन्तर्प्रेरणा है वहाँ काव्य टेकनीक-मात्र का प्रयोग कैसे होसकता है? छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है। उसके पीछे अनुभूतिकी अन्तर्प्रेरणा असन्दिग्ध है। उसकी अभिव्यक्तिकी विशेषता भाव-पद्धतिकी विशिष्टताके ही कारण है।

—निष्कर्ष—

निष्कर्ष यह है कि छायावाद एक विशेष प्रकारकी भाव-पद्धति है: जीवनके प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।

जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवनके प्रति एक प्रकारका भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक दूसरे प्रकारका, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकारका भावात्मक दृष्टिकोण है।

इस दृष्टिकोणका आधेय नव-जीवनके स्वप्नों और कुण्ठाओंके सम्मिश्रणसे बना है, रूप-विधान अन्तर्मुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति

है प्रायः प्रकृतिके प्रतीकों द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्वतः सर्वात्मवाद मानी जासकती है। पर वहाँसे इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली।

यह तो स्पष्ट ही है कि छायावादका काव्य प्रथम श्रेणीका विश्व-काव्य नहीं है—कुण्ठाकी प्रेरणा प्रथम श्रेणीके काव्यको जन्म नहीं देसकती।

प्रथम श्रेणीके काव्यकी सृष्टि तो पारदर्शी कविके द्वारा ही सम्भव है, जिसकेलिए यह जीवन और जगत् अनुभूति हो और जो सत्यको प्राप्त कर-चुका हो। परन्तु यह सौभाग्य संसारमें कितनोंको प्राप्त है? इसके अतिरिक्त, संसारका अधिकांश काव्य कुण्ठा-जात ही तो है। उसकी तीव्रता, उसके वैभव-विलासका जन्म प्रायः कुण्ठासे ही तो होता है।

इस सीमाको स्वीकार करलेनेके उपरान्त छायावादको अधिक-से-अधिक गौरव दिया जासकता है। और सच ही, जिस कविताने एक नवीन सौन्दर्य-चेतना जगाकर एक बृहत् समाजकी अभिरुचिका परिष्कार किया; जिसने उसकी वस्तु-मात्रपर अटक जानेवाली दृष्टिपर धार रखकर उसको इतना नुकीला बनादिया कि हृदयके गहनतम गह्वरोंमें प्रवेशकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और तरल-से-तरल भाव-वीचियोंको पकड़ सके; जिसने जीवनकी कुण्ठाओंको अनन्त रङ्गवाले स्वप्नोंमें गुदगुदा दिया; जिसने भाषाको नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु-हास और नवीन विभ्रम-कटाक्ष प्रदान किये; जिसने हमारी कलाको असंख्य अनमोल छाया-चित्रोंसे जगमग करदिया; और अन्त में जिसने कामायनीका समृद्ध रूपक, पल्लव और युगान्तकी कला, नीरजा के अश्रु-गीले गीत, परिमल और अनामिकाकी अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविताका गौरव अक्षय है! उसकी समृद्धिकी समता हिन्दीका केवल भक्ति-काव्य ही करसकता है।

छायावादकी रूपरेखा

छायावाद हिन्दी कविताके इतिहासमें एक प्रमुख भाग है। आधुनिक युगकी हिन्दी कविताका कला और शैलीकी दृष्टिसे वह उत्कृष्ट और प्रौढ रूप है। भारतेन्दु-युगसे हिन्दी कविता करवट बदलती है; उसकी हल्की जीवन-प्रेरणा द्विवेदी-युगमें स्वस्थ और सशक्त होती है और उसका कलात्मक स्वरूप छायावादी कवियोंकी कृतिमें पराकाष्ठाको पहुँचता है। छायावादके परवर्त्ती कालमें इस कलामें क्षयके लक्षण प्रगट होने शुरू होते है और सूर्यास्तकी चमक-दमक उसके स्वरूपमें आजाती है। वह दिया-बाती जो भारतेन्दु युगमें हल्की-हल्की जली थी, अब मानों अन्तिम आलोक बिखराकर बुझनेको है। भारतेन्दुसे लेकर आजतक आधुनिक हिन्दी कविताके इतिहासकी यह विहङ्गम-दृष्टि है। पहले चरणमें सामन्ती परम्परासे हिन्दी कविता अलग हुई; दूसरेमें उसने अपनी रूप-रेखा निश्चित की; तीसरेमें वह प्रौढ़ और पुष्ट हुई; अब हिन्दी काव्यकी यह प्रबल धारा अपनी आखिरी मंज़िल पार कररही है।

क्यों भारतेन्दु युगमें हिन्दी साहित्यमें क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए, इसका उत्तर आसान है। अंग्रेज़ोंके आगमनके साथ भारतीय इतिहासका नया युग आरम्भ होता है। क्रमशः नवीन शासन-व्यवस्था और नयी आर्थिक व्यवस्थाके साथ भारतीय समाजमें गहरे परिवर्त्तन होते हैं, रहन-सहन और आचार-विचार बदलते हैं और एक नयी संस्कृति बनती है। इस नवीन सम्पर्कके फलस्वरूप भारतीय संस्कृतिका पुनर्जागरण होता है और हमारी जीर्ण सामन्ती परम्परा एक नया बल प्राप्त करलेती है। भारतके इस सांस्कृतिक जागरणका केन्द्र बङ्गाल था। बङ्गालमें ही अंग्रेज़ोंके शासनका मुख्य अड्डा था, अतः नवीन संस्कृतिका सूर्य यहींसे उदय होता है और मध्याह्नमें उसके प्रखर तेजकी किरणे देशभरमें फैलजाती हैं। इस जागरणके अनेक महापुरुष बङ्गालमें जन्म लेते हैं: राजा राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिम, माइकेल मदुसूदन दत्त, अन्तमें रवि ठाकुर, शरत् बाबू, नन्दलाल बोस, दिलीप राय और उदय शङ्कर।

इस नये युगमें भारतीय समाज व्यवस्थामें आमूल परिवर्त्तन होते हैं। सामन्ती ढाँचा छोड़कर भारतीय समाज नयी और सबल पूँजीवादी प्रणालीको अपनाता है। एक नया बुद्धिजीवी वर्ग हमारे समाजमें जन्म लेता है; उसके आचार-विचार हमारे लम्बे इतिहासमें कुछ अद्भुत् ही हैं। पहली बार हमारे देशमे मध्यम वर्ग एक नयी संस्कृतिका निर्माण करता है। इस नयी संस्कृतिका इतिहास सन् १८५७ से शुरू हुआ, जब भारतीय सामन्तवादने अन्तिम हार खायी।

भारतेन्दु-युगके लेखक जीवनके प्रति एक अभिनव दृष्टिकोण लेकर आये। उनकी दृष्टि रीतिकालके कवियोंसे सर्वथा भिन्न है। उनकी सम्पूर्ण प्रतिभा नायक-नायिका भेद, नख-शिख वर्णन अथवा एक बँधे ढंगके षट्-ऋतु वर्णन या अलङ्कार विवेचनामें नहीं लगजाती। वह एक उर्वरा भूमि के उगते अंकुर हैं: बंजर भूमिके झाड़- झङ्खाड़ नहीं। नवयुगके क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्त्तन इस लेखक-वर्गको स्वीकार हैं, और अपने विकास के पथमें विदेशी पूँजीवादका अवरोध वह समझता है। "भारत दुर्दशा" में हमको इस दृष्टिकोणका अच्छा परिचय मिलता है। भारतीय समाजका प्रवाह सामन्ती युगमें किस प्रकार रुकगया था, इसका कितना 'आधुनिक' विवरण भारतेन्दु देते हैं :

"रचि बहु विधि के वाक्य पुरातन माँहि घुसाये ;
सैव, साक्त, वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाये।
जाति अनेकन करी, नीच अरु ऊँच बनायो ;
खान - पान - सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायो।
जन्म - पत्र बिन मिले ब्याह नहिं होन देत अब ;
बालकपन में ब्याहि प्रीति, बल नास कियो सब।
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरजु मारयो ;
बिधवा - ब्याह - निषेध कियो, बिभिचार प्रचारयो।
रोकि बिलायत - गमन, कूप - मंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।
बहु देवी, देवता, भूत – प्रेतादि पुजायी ;
ईस्वर सों सब बिमुख किये हिन्दू घबरायी।

जो विचार "भारत दुर्दशा" में भारतेन्दुने व्यक्त किये हैं वही कलात्मक श्रृङ्गार करके पन्तके "परिवर्त्तन" में हमारे सामने आते हैं। इन विचारों का सारांश इस प्रकार है: भारत, जो दुनियामें इतना बढ़ा-चढ़ा था, आज अधःपतनके गढ़ेमें पड़ा है; जो संसारका मुकुट था, आज सबसे पिछड़ा है:

"कहाँ आज वह पूर्ण - पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगन्त - छबि - जाल
ज्योति - चुम्बित जगती का भाल ?
राशि राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार ?
स्वर्ग की सुखमा जब साभार
धरा पर करती थी अभिसार !"

× × ×

"हाय ! सब मिथ्या बात !—
आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस !
वही मधु - ऋतु की गुञ्जित - डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिञ्चनता में निज तत्काल
सिहर उठती, - जीवन है भार !..."

द्विवेदी-युगमें राष्ट्रवादी कविताका अधिक प्रचार हुआ। आधुनिक काव्यके इस दूसरे चरणमें हमारे प्रतिनिधि बाबू मैथिलीशरण गुप्त, 'एक भारतीय आत्मा' और 'नवीन' आदि कवि हैं। सामाजिक कुरीतियोंसे हमारा ध्यान हटकर राजनैतिक और आर्थिक शोषणकी ओर अधिक जाता है। भारतीय पूँजीवाद अब अपने विकासकी रुकावटोंको दूर करने का भरसक प्रयत्न करता है। सन् १९२० के बाद हमारी राजनैतिक लड़ाई विकट रूप धारण करती है। इस हलचलकी अभिव्यक्ति समकालीन साहित्यमें काफी स्पष्ट है। "भारत-भारती" का एक अंश देखिए:

"वैश्यो ! सुनो, व्यापार सारा मिट चुका है देश का,
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का ?

अब भी न यदि कर्त्तव्य का पालन करोगे तुम यहाँ—
तो पास हैं वे दिन कि जब भूखों मरोगे तुम यहाँ।
अब तो उठो, हे बन्धुओ! निज देश की जय बोल दो,
बनने लगें सब वस्तुएँ, कल-कारखाने खोल दो।
जावे यहाँ से और कच्चा माल अब बाहर नहीं—
हो 'मेड इन' के बाद बस अब 'इंडिया' ही सब कहीं।
है आज भी रत्न-प्रसू वसुधा यहाँ की-सी कहाँ?
पर लाभ उससे अब उठाते हैं विदेशी ही यहाँ!
उद्योग घर में भी अहो! हमसे किया जाता नहीं
हम छाल-छिलके चूसते हैं, रस पिया जाता नहीं॥"

'नवीन' की कवितामें राष्ट्रवादका क्रन्दन गहरा होगया है और नज़रुलके नाशवादका प्राथमिक हिन्दी रूप भी हमें इन्हींकी रचनामें मिलता है:

"नियम और उपनियमों के ये
बन्धन टूक-टूक हो जाएँ,
विश्वम्भर की पोषक वीणा
के सब तार मूक हो जाएँ,
शान्ति-दण्ड टूटे, उस महा-
रुद्र का सिंहासन थर्राये,
उसकी श्वासोच्छ्वास-दाहिका
जग के प्राङ्गण में घहराये,
नाश! नाश!! हाँ महानाश!!! की
प्रलयङ्करी आँख खुल जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे अङ्ग अङ्ग झुलसाएँ..."

सन् १९२० के संग्राममें भारतीय जनशक्तिने विदेशी पूँजीवादसे टक्कर ली और शिकस्त खाई। सन् १९२० से १९३० तक हमारे राष्ट्रवादमें पराजयके स्वर आजाते हैं। भारतीय पूँजीवाद जो इस लड़ाईमें आगे था, जनताकी शक्तियोंसे आशंकित होउठा है और जनतासे अलग होकर उसकी

लड़ाई निर्बल होजाती है। अतएव एक घोर निराशा वातावरणमें छाजाती है। इस निराशाकी गम्भीर अभिव्यक्ति भी 'नवीन' की एक कवितामें हुई है: —

आज खड्ग की धार कुण्ठिता
है, खाली तूणीर हुआ,
विजय-पताका झुकी हुई है,
लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ,
बढ़ती हुई क़तार फ़ौज की,
सहसा अस्तव्यस्त हुई,
त्रस्त हुई भावों की गरिमा,
महिमा सब सन्यस्त हुई,
मुझे न छेड़ो, इतिहासों के
पन्नो, मैं गतिधीर हुआ,
आज खड्गकी धार कुण्ठिता
है, खाली तूर्णार हुआ।

छायावाद हमको अंग्रेज़ीके रोमैन्टिक कवियोंका स्मरण दिलाता है। रोमैन्टिक कवियोंने अँग्रेज़ी कविताको प्रौढ़ रूप दिया, उसको गम्भीर और गहरी धारमें प्रवाहित किया और सामाजिक क्रान्तिका अस्त्र बनाया। रोमैन्टिक युगके बाद अँग्रेज़ी काव्यका ह्रास शुरू होजाता है। छायावादमें इन प्रवृत्तियोंको हम परमाणु रूपमें अवश्य पायेंगे।

छायावादने आधुनिक हिन्दी काव्यको प्रौढ़ शैली प्रदान की और उच्च कोटिका शिल्प सिखाया। भारतेन्दु और द्विवेदी युगमें हिन्दी काव्य अनुभूति, कल्पना, और भाषा सभीमें काफ़ी दीन था। द्विवेदी युगके अनेक कवि मानो बाँये हाथसे कविता लिखते थे। प्रसाद, पन्त और निराला ने हिन्दी काव्यके सभी पक्ष सँवारे। पहली बार खड़ीबोलीने यह प्रमाणित किया कि वह काव्यकी भाषा बननेके योग्य है। महादेवीजीकी रचनाओं में अनन्य माधुरी लेकर खड़ीबोली प्रगट हुई है। साथही भावोंकी गहराई और कल्पनाकी सहज और ऊँची उड़ान इस काव्यमें है। जिस चरम सीमा को सामन्ती कला अपने विकास-कालमें पहुँची थी, लगभग उसी सीमातक यह मध्य-वर्गकी कला पहुँचचुकी है। कम-से-कम उसके अवयवोंकी माधुरी, उसके रूप-कलापका लालित्य सभीको स्वीकार करना होगा। निम्नलिखित

पंक्तियोंका मधुर सङ्गीत और शब्द-विन्यास किसी भी कलाको गौरव दे सकते हैं :--

तन्द्रिल निशीथ में ले आये
गायक तुम अपनी अमर बीन !
प्राणों में भरने स्वर नवीन !

अथवा,

नवल मेरे जीवन की डाल
बन गई प्रेम-विहग का वास !
आज मधुवन की उन्मद वात
हिला दे गयी पात - सा गात,
मन्द्र, द्रुम - मर्मर - सा अज्ञात
उमड़ उठता उर में उच्छ्वास !
नवल मेरे जीवन की डाल
बन गई प्रेम-विहग का वास !

अथवा,

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !
जलधि-मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे ही दृग - व्योम में;
सजल श्यामल मंथर मूक-सा
तरल अश्रु-विनिर्मित गात ले:
नित घिरूँ झर झर मिटूँ प्रिय !
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !

छायावादी कवियोंने एक नये सिरेसे हिन्दी भाषाको गढ़ा है, उसे अनेक नये रूपक और संकेत दिये हैं, नयी कोमलता और स्निग्धता उसके प्राणोंमें भरी है। छायावादने हिन्दी साहित्यको एक नयी शब्दावली, एक नयी भाव व्यञ्जना और कला दृष्टि दी। इस शैलीके उच्चतम प्रयास कामायिनी, पल्लव, अनामिका और नीरजा हैं। किसी भी कला-मन्दिरकी शोभा इन रचनाओंसे बढ़ सकती है।

छायावाद किसी सुदूर काल्पनिक जगको खोजनेका प्रयास है। अरूप

के प्रति उसे विशेष मोह है। जीवनके स्थूल सत्यसे उसे अरुचि है। महादेवीजीके शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि जीवनके "सूक्ष्म" सत्यको वह खोजता है। छायावाद उपयुक्त ही नामकरण हुआ, क्योंकि छाया-जगकी चर्चा ही इन कवियोंका ध्येय है। दूर कुछ खोजनेका भाव हमें इस कविता में निरन्तर मिलता है:

ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक !
धीरे - धीरे।
जिस निर्जन में सागर - लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी।
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल
की अवनी रे।
—प्रसाद

हमें जाना है जग के पार।—
जहाँ नयनों से नयन मिले,
ज्योति के रूप सहस्र खिले,
सदा हो बहती नव-रस धार
वहीं जाना, इस जग के पार।
—निराला

स्तब्ध-ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न-अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन !
—पन्त

शायद संकेत रूपसे छायावादके प्रति निम्नलिखित पंक्तियाँ अनुचित नहीं हैं:—

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम?
अये अभिनव, अभिराम!

मृदुलता ही है बस आकार,
मधुरिमा - छवि, शृंगार;
न अंगों में है रंग, उभार,
न मृदु-उर में उद्गार;
निरे साँसों के पिञ्जर - द्वार !
कौन हो तुम अकलङ्क, अकाम ?

—पल्लव

छायावादपर बङ्गला कविता, विशेषकर रवि बाबूका अनन्य प्रभाव है। गीताञ्जलि, सोने की तरी आदि गुरुदेवकी पुस्तकोंमें भी किसी अलौकिक रूपको खोजनेका यह प्रयास है। किसी परी-लोकमें, अन्धकारके देश में, बुद्‌बुद्-से फेलिन स्वप्न-प्रान्तमें कविके प्रियतमका वास है :—

क्या वहीं तुम्हारा देश
ऊर्मि-मुखर इस सागर के उस पार—
कनक-किरण से छाया अस्ताचल का पश्चिम द्वार ?
—गुरुदेवकी 'निरुद्देश यात्रा' का अनुवाद अनामिकासे

क्या इस छायावादके पीछे कोई निगूढ़ रहस्य छिपा है ? इस काव्य का आध्यात्मिक लक्ष्य और जीवन-दर्शन क्या है ? संकेतोंके बलसे वह जीवन के चरम रहस्यको पकड़ता और व्यक्त करना चाहता है। अँधेरी रातमें पथिक आया और लौटगया, कवि उसे पहचान भी न सका। वह किसी अज्ञात देशका वासी फिर न जाने कैसे मिलेगा !

शशिमुख पर घूँघट डाले, अञ्चल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये।

—महादेवी

अथवा,

पथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
तम ने धोया नभपंथ
सुवासित हिमजल से;
सूने आँगन में दीप
जला दिये झिलमिल से;

आ प्रात बुझा गया कौन
अपरिचित, जानी नहीं !
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
—महादेवी

यह 'आदर्श' - जगत मनुष्यको सदा मोहक रहा है। प्लेटोके प्रसिद्ध रूपकके अनुसार किसी अँधेरी गुफाके हम बन्दी प्राणी आदर्शकी छाया गुफाकी दीवारोंपर पड़ती देखते हैं और अनुमान लगाते हैं कि वह आदर्श क्या है !

पन्तकी कवितामें यह छायावाद जगके रहस्यके प्रति केवल एक विस्मयका भाव है, जो निरन्तर उमड़ता है :

अरे, ये पल्लव - बाल !
सजा सुमनोंके सौरभ - हार
गूँथते वे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,
नहीं छूटी तरु - डाल;
विश्व पर विस्मित - चितवन डाल,
हिलाते अधर-प्रवाल !

पन्त अपने छायावादी कालमें प्रकृतिके अनन्य उपासक रहे हैं और आपके काव्यका यह विस्मय भाव प्रकृतिके रूप और रहस्य द्वाराही अधिक प्रेरित हुआ है।

तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते नव नव भाव,
कभी बन हिम-जल की लघु बूँद
बढ़ाते मुझ से चिर - अपनाव;
गुदगुदाते ये तन, मन, प्राण,
नहीं रुकती तब यह मुसकान !

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर मुझको उस पार...

किन्तु छायावादके समस्त दर्शनको इस प्रकार नहीं समझा जा सकता। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी सदियों पुरानी भारतीय चिन्ता धाराके उत्तराधिकारी हैं; उस चिन्ताका प्रधान गुण आदर्शवाद रहा है, यानी यथार्थका छायाके प्रति मोह, अदृष्टका आतंक और ससीमका निस्सीम से प्रेम। छायावाद उन क्षणोंको खोजता है:

जब असीम से हो जायेगा
मेरी लघु सीमा का मेल—

"छायावादकी प्रकृति घट, कूप आदिमें भरे जलकी एक-रूपताके समान अनेक रूपोंमें प्रकट एक महाप्राण बनगई, अतः अब मनुष्यके अश्रु, मेघके जलकण और पृथ्वीके ओस-बिन्दुओंका एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृतिके लघु तृण और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत-रेखा, मानवकी लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चञ्चलता-निश्चलता और ज्ञानका केवल प्रतिबिम्ब न होकर एकही विराटसे उत्पन्न सहोदर हैं।"

जिस भारतीय दर्शनको किसी सुदूर अतीतकी परिस्थितियोंने जन्म दिया था, वह अबभी हमारे मस्तिष्कपर अधिकार जमाये है, किन्तु नयी परिस्थितियोंने नये विचारोंको जन्म दिया है और छायावाद भी अपनी विरासत आदर्शवादको सहेजकर पूँजीवादके दर्शन व्यक्तिवादकी ओर मुड़ता है।

किस प्रकार छायावादने भारतीय दर्शनके मतवादोंको अपनाया, इसका उदाहरण कामायिनीमें मिलता है:

"मनु अर्थात् मनके दोनों पक्ष—हृदय और मस्तिष्कका सम्बन्ध 'श्रद्धा' और 'इड़ा' है। ······इड़ाकेलिए मनुको अत्यधिक आकर्षण हुआ और श्रद्धासे वे कुछ खिंचे। ······अनुमान किया जासकता है कि बुद्धिका विकास, राज्य-स्थापना इत्यादि इड़ाके प्रभावसे ही मनुने किया।"

—कामायिनी

इस रूपक और कामायिनी के ललित स्थलोंके पीछे भारतीय दर्शनका चिर-सहचर कर्मकाण्ड भी है।

मनु यह श्यामल कर्म-लोक है
धुँधला कुछ कुछ अन्धकार-सा,

सघन हो रहा अविज्ञात यह
देश मलिन है धूमधार - सा ।

कर्म - चक्र - सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति प्रेरणा;
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा ।

श्रम - मय कोलाहल, पीड़न - मय
विकल प्रवर्त्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया तन्त्र का ।

हम देखेंगे कि छायावादमें इसी प्रकारके विचारोंकी अस्पष्ट सी अभिव्यक्ति है और इसी कारण इस काव्यका नामकरण 'छायावाद' हुआ।

इन तत्वोंसे अधिक गहरा कुछ हमें छायावादके दर्शनमें नहीं मिलता, उसके शिल्पके रङ्ग चाहे जितने गाढ़े हो। छायावाद यथार्थकी कटुतासे भी बचता है। इसका कारण हमारी राजनैतिक और आर्थिक परवशता है। हम देख चुके हैं कि बीसवीं शताब्दीके भारतीय जागरणके चिह्न सन् १९२० के बाद निराशामें बदलने लगे हैं। हमारा राजनैतिक और आर्थिक संकट तीव्र होता जारहा था। जनता क्षुब्ध थी और भारतीय पूंजीवाद जन-शक्तिके प्रयोग से घबराता था। इन परिस्थितियोंमें स्वाभाविक ही था कि हमारे कलाकार विषम यथार्थको भूलकर एक सपनोंका संसार बनाएँ और कल्पनाके शीश-महलमें जा बसें।

छायावादके प्राथमिक कवि सामाजिक चेतना अवश्य लिये थे, किन्तु काव्यमें उसकी अभिव्यक्ति बहुत कम हुई। प्रसादके उपन्यासो, निराला जीके गीतों और पन्तके परिवर्त्तन में इस सामाजिक दायित्वका पूरा बोध है। किन्तु छायावाद संकेतोंकी भाषा है और उसकी प्रमुख प्रवृत्ति पलायन की भावना है। किस प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता यथार्थवादकी ओर मुड़ी, इसका विवरण अनामिकासे कुकुरमुत्ता अथवा गुंजनसे युगवाणी और ग्राम्या तक हिन्दी कविताके विकासमें मिलेगा।

पूँजीवादकी दार्शनिक भाषा व्यक्तिवाद है। काव्यमें व्यक्तिवाद गीतकी परम्पराको विकसित करता है। गीति-काव्य अत्यधिक अन्तर्मुखी और व्यक्तिगत् कला है। पूँजीवादके अन्तर्गत महाकाव्य नहीं लिखे जाते, क्योंकि उनकी प्रेरणा सामूहिक जीवनसे है।

छायावादने हिन्दीके गीति-काव्यका अभूतपूर्व विकास किया है। वास्तवमें कामायिनी भी स्वतन्त्र गीतोंकी एक अद्भुत लड़ी है। कथाके धागे में मोती-से इन गीतोंको पिरोनेका कविने प्रयास किया है।

किस प्रकार निरालाजीका व्यक्तित्व उनके काव्यपर छाया है, इसके उदाहरण देना आसान है। आप "सदियोंके जकड़े हृदय-कपाट" को कठिन प्रहारकर तोड़देना चाहते हैं। आपकी सकरुण दृष्टि "पथपर" अपना "जीवन" भरदेना चाहती है, जिससे क्षुब्ध तृण, अंकुर उल्लसित होउठें। छायावाद के कल्पना-प्रासादमें भी आपने ही "भिखारी" और "पथपर" "पत्थर तोड़ने वाली" शोषित जातियोंको ला बसाया। किन्तु कविका क्रन्दन ही उमड़कर वसुधामें व्याप्त होरहा है; उसके अश्रु जगके पारावार बने हैं।

मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर,
मेरे ही बन्धन से निश्चल—
नन्दन-कुसुम-सुरभि-मधु मदिर समीर;

मेरे गीतों का छाया अवसाद,
देखा जहाँ, वहीं है करुणा,
घोर विषाद

—अनामिका

छायावादके पूर्ववर्त्ती कवि अहम्‌का प्राधान्य रखतेहुए भी बाहर की दुनियाके प्रति सचेत थे, किन्तु नयी पीढ़ीके कवि अपने अन्तरके ही बन्दी हैं, निराशाओंके शिकार हैं और सामाजिक यथार्थपर अस्त्र-प्रहार करनेमें असमर्थ हैं। उनके प्राण अन्दर-ही-अन्दर घुटरहे हैं।

महादेवीजीकी कविता छायावादकी अन्तिम मंज़िल है। छायावाद का मधुरतम स्वरूप आपके काव्यमें हम देखेंगे। किन्तु इस मधुरिमाके पीछे कितनी अव्यक्त पीड़ा है, कितना अश्रु-शृंगार है! आपकी कलाका अत्यन्त निखरा रूप आपकी सबसे बादकी काव्य-पुस्तक दीप-शिखामें मिलता है :

अब न लौटाने कहो अभिशाप की वह पीर !
बन चुकी स्पन्दन हृदय में और नयन में नीर !

अथवा,

अग्नि-पथ के पार चन्दन-चाँदनी का देश है क्या ?
एक इंगित के लिए शत बार प्राण मचल चुका है !
मोम-सा तन घुल चुका अब दीप-सा मन जल चुका है !

पूँजीवादने आज सामाजिक विकासके सभी रास्ते रोकदिये हैं। कविके द्रवित नयन आज आशाकी कोई लौ नहीं देखपाते। चतुर्दिक गहन तमका परावार हिलोर माररहा है :

भीत तारक मूँदते दृग
भ्रान्त मारुत पथ न पाता,
छोड़ उल्का अंक नभ में
ध्वंस आता हरहराता
उँगलियों की ओट में सुकुमार सब सपने बचालूँ।

छायावादका एकाकीपन, उसकी निराशा और पराजय-भावना सामाजिक पृष्ठ-भूमिमें रखकर हम अनायास ही समझ सकते हैं। पूर्ववर्त्ती कवियोंकी रचनामें इतना गहन अन्धकार नहीं मिलता। १६३० के आन्दोलन के बाद मानो हमारे मध्यम वर्गने अपनी विजयकी सब आशा छोड़दी। परवर्त्ती कवि सभी घोर निराशाके वातावरणमें पले हैं। एक हदतक इस पीढ़ी की रचना पराजयवादको अपनालेती है।

नरेन्द्र छायावादके प्रभावमें पले अन्तिम कवि हैं। किन्तु आप उसके छाया-जालसे निकलचुके हैं। आप अधिक यथार्थवादी संकेतोंका प्रयोग करते हैं। और यथार्थकी चेतनता भी आपके काव्यमें तीव्र है। किन्तु आज भी जब आपका हृदय और मस्तिष्क एक आशावादी सामाजिक दर्शनका वरण करचुका है, आपका काव्य निराशाके स्वरोंमें बोल पड़ता है :

लक्ष्य-भ्रष्ट तीरों से खाली जो, ऐसा तूणीर,
मूठ रही बस कर में जिसकी, मैं ऐसी शमशीर !
कहने को भी नहीं रहा कुछ—मेरी ऐसी पीर,
सूख चला जल जिसका, मैं ऐसी नदिया गँभीर।

'मिट्टी और फूल'

छायावाद हिन्दी कविताको एक मंज़िल तक पहुँचाकर अपना ऐतिहासिक रोल पूरा करचुका। बीमार समाजको जिस उपचारकी आवश्यकता है, वह छायावादके वशका नहीं। अतः एक-एक करके छायावादके माँझी अपनी पुरानी तरी छोड़रहे हैं, क्योंकि उनकी जागरूक चेतना सामने गहरे नद और नदी देखरही है। पन्तजी युगवाणी लिखकर, निराला कुकुरमुत्ता लिखकर और महादेवीजी बंगालके अकाल और गुरुदेवकी मृत्यु जैसे विषयोंपर लेखनी उठाकर अपनी प्रेरणाका यथार्थसे सम्बन्ध जोड़रहे हैं। कविके मर्मपर आजकी परिस्थिति आघात कररही है। हवाई मीनारोंमें बन्द रहना अब उसकेलिए असम्भव होउठा है।

आज हम रास्तेके मोड़पर खड़े हैं। संसारकी शक्तियाँ लोहमर्षण युद्धमें लगी हैं। हमारे देखते-देखते समाजका भविष्य बनरहा है। इतिहासके निर्माणमें दुनिया-भरके लेखक हाथ बँटारहे हैं। भारतीय लेखक भी अपने अस्त्रोंसे परिस्थितिके खिलाफ़ लड़नेको तैयार हैं। यह उचित ही है कि छायावादी टेकनीक द्वारा अपनी प्रेरणा और कलाका समुचित विकास करके आज वह सामाजिक यथार्थवादको अपनावे। इतिहासने आज दुनियाको जिन दो दलोंमें बाँटदिया है, उनके बीच तभी वे अपना निश्चित स्थान ले सकेंगे। हमें अँग्रेज़ीके प्रसिद्ध कवि ऑदेनके उन शब्दोंका ध्यान आता है, जिनसे उन्होंने 'स्पेन' शीर्षक अपनी लम्बी कविताको समाप्त किया है :

Tomorrow for the young the poets expolding like bombs,
The walks by the lake, the weeks of perfect communion;
Tomorrow the bicycle races
Through the suburbs on summer evenings. But to day the struggle

अर्थात्

कल युवाओं के लिए कवि बमों की तरह फटेंगे,
झील के किनारे सैर होगी, पूर्ण संपर्क के सप्ताह होंगे;
कल साइकिलों की दौड़
ग्रीष्म की सन्ध्याओं में नगर के बाहर होगी।
किन्तु आज संघर्ष···।

साहित्यमें प्रगतिवाद

कठिन समस्याओंके इस जलतेहुए युगमें भी फ़ैशनेब्ल वेदनावादियों और छायावादी आलोचकों द्वारा तर्कके लिए यह बार-बार कहाजाता है कि किसीभी कलाकृतिकी आलोचनात्मक जाँच उसके किन्हीं अर्धज्ञात और अर्धअज्ञात नियमोंके अनुसार होनी चाहिए। दूसरे शब्दोंमें, कलाके जो एकान्तिक और असामाजिक नियम हैं उन्हींकी कसौटीपर किसी कृति को कसना चाहिए। परन्तु प्रगतिवादकी दृष्टिमें कलाकी आलोचनाका विशेष कार्य यह है कि वह उस कला-कृतिके पीछे चलनेवाले सक्रिय सामाजिक प्रभावोंका भी विश्लेषण करे। प्रगतिवाद कला-कृतिके निर्माणकी सुघरताओं और सौन्दर्य-योजनाओंके पीछे बसीहुई उन सामाजिक आसक्तियों और विरक्तियोंको भी पहचाननेकी चेष्टा करता है जो मानवके समस्त कलात्मक प्रयत्नोंको प्रेरित करती है। तभी आगे चलकर प्रश्न उठता है किकला की प्रवृत्ति-विशेष इतिहासके काल-विशेषमें कैसे उत्पन्न और विकसित हुई। वे कौन-सी शक्तियाँ थीं जिन्होंने कलाके स्वरूप-विशेषकी माँग की और अन्य किसी स्वरूपके सृजन और उन्नयनपर आग्रह नहीं किया? उन इतिहास या समयकी शक्तियोंने ऐसा क्यों किया? साहित्य मानवके संघर्षोंका प्रति-बिम्ब है। मानवके वैयक्तिक और सामूहिक दोनों प्रकारके द्वन्दोंका आकलन साहित्यमें होना चाहिए। सामाजिक मानवके सामूहिक संघर्षोंके, जीवनके द्वन्द और वर्गगत द्वैतके, वैज्ञानिक स्पष्टीकरणको ही आज प्रगतिवाद कहा जाता है। (इसे दूसरे शब्दोंमें हम जनतावाद भी कह सकते हैं) आलोचना के क्षेत्रमें आकर प्रगतिवादका पहला सिद्धान्त बनता है— साहित्य और कला न केवल मानवीय संघर्षोंके इतिहास हैं वरन् वह मानवीय भाग्यपर अधिकार करनेके—व्यक्तिके सामाजिक जीवनको अधिक सुखमय, सन्तोष-प्रद और स्वस्थ्य बनानेके—सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक साधन भी हैं। प्रगतिवादीके हाथमें आकर कला सामाजिक सन्तोषकी उन्नततम स्थितियों को जन्म देने और विकसित करनेका माध्यम ही नहीं वरन् एक क्रान्तिकारी अस्त्र बनजाती है। मानवकी उन्नतिका मूल उसका वह नैसर्गिक असन्तोष है जो उसे वर्तमानसे समझौता करनेकी प्रेरणा न देकर उसे सदैव विरोधी

और प्रगतिशील वातावरणसे लड़नेका संकल्प प्रदान करता है।

यही असन्तोष सामाजिक स्तरपर आकर उन विद्रोही आन्दोलनोंका रूप धारण करता है जो सदैव मानवकी स्वतन्त्र जीवन-चेतनाकी ओर उन्मुख करते हैं। मानवीय असन्तोषकी इस व्यक्तिगत चेतनाका सामाजीकरण करके जो साहित्य उसे बन्धनोंसे मुक्त करता है और व्यक्ति-व्यक्तिकी बिखरी हुई असामाजिक शक्तियोंको, व्यक्तिवादी क्रान्ति-शिखाओंको समेट कर उन्हें एक महान् लोक-चेतना और जनज्वालाके रूपमें परिणत करता है वही प्रगतिवादी है। स्पष्ट है कि ऐसा जो लेखक या कलाकार केवल अपनी ही आत्मिक असङ्गतियों और अन्तर्विरोधोंकी, अपनी ही रुचियों और अरुचियों, विकृतियों और आकृतियोंकी तटस्थ जीवन-आलोचनामें सीमित न रहेगा वरन् उन उगती हुई सामाजिक और आर्थिक शक्तियोंके साथ अपनेको तल्लीन करदेगा जो आज एक महान् समाजवादी मानवताका निर्माण कररही हैं। कलाकारके व्यक्तित्वसे भी बड़ा और ऊपर जो महान् सामाजिक सत्य है—जो सजीवतम सामूहिक यथार्थता है—उसे ध्यानमें रक्खे बिना और उसकी वैज्ञानिक चिन्तना किये बिना कोईभी कलाकार आज प्रगतिशील नहीं होसकता। कारण स्पष्ट है। आज समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र और साहित्य—समस्त सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और आन्दोलनोंके सामने एकही प्रश्न है: व्यक्ति द्वारा व्यक्ति, श्रेणी द्वारा श्रेणी और देश द्वारा देशके होरहे अमानवीय शोषणको समाप्त करना। जबतक यह नहीं होता तबतक जन-साहित्यकी परम्परा नहीं बनेगी और जन-साहित्यके निर्माणके बिना वह जनसंस्कृति नहीं बनेगी जो आज युगकी पहली माँग है और जिसके बिना मानव-समाज साम्राज्यवाद और फ़ासिस्टवादके शोषक शिकन्जेसे छूट नहीं सकेगा। यह महाजनी सभ्यता जिसमें मानवका वास्तविक मूल्य और महत्व केवल उस धनके ऊपर निर्भर करता है जो वह अपनेही जैसे इतर मानवोंका खून चूसकर सञ्चित करता है, नष्ट होनी ही चाहिए। यह तभी होगा जब संसारसे सामाजिक विषमता, आर्थिक असमानता और सांस्कृतिक रङ्कताका सदैवकेलिए नाश होजाय।

साहित्यको अक्सर स्वरूप दर्शक (सब्जेक्टिव) और सर्वरूप दर्शक (ऑब्जेक्टिव) इन दो विभागोंमें बाँटकर उन समस्त असामाजिक किन्तु सृजनात्मक प्रवृत्तियोंको समझने और न्यायसङ्गत सिद्ध करनेकी चेष्टा की

जाती है जो केवल व्यक्तिगत अहंकी तुष्टिकेलिए कीजाती है। परन्तु कलाकारका स्वरूप-दर्शन (सब्जेक्टिविटी) कोई ऐसी अछूती और सामाजिक प्रभावोंसे निर्लिप्त वस्तु नहीं जो भीतर-ही-भीतर एक हॉट-हाउस-प्लेन्टकी तरह विकसित होती हो, वस्तुतः कलाकारकी स्वरूप-दर्शिका वृत्ति वाह्य आघात-प्रतिघातोंसे बराबर प्रभावित होती रहती है और ये वाह्य प्रभाव भी उस महान् सामाजिक यथार्थता और वस्तु-सत्ताके होते हैं जो प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हैं। यह परिवर्तन जब सधीहुई मंथर गतिसे होता है तो विकासवाद कहलाता है और जब द्रुतगति या किसी तूफ़ानी वेगसे होता है तो क्रान्तिके नामसे पुकाराजाता है। प्रसिद्ध अमेरिकन कवि डे लुइने विकासवाद और क्रान्तिवादका अन्तर बतातेहुए सामाजिक दर्शनशास्त्रकी एक बड़ी बात निम्नलिखित पंक्तिमें कहदी है :—

"एवोल्यूशन इज़ ए डैन्स—रेवोल्यूशन्स आर स्टेप्स"

प्रगतिवादकी परम्परा सदैव क्रान्तिकी परम्परा होती है और वह क्रान्ति अज्ञेय जैसे व्यक्तिवादियोंकी क्रान्ति नहीं होती जो बिना अपना लक्ष्य और उद्देश्य जाने एक पगली अन्धी आँधीकी तरह चलती है। यही नहीं, जिसकी गलत धारणाके अनुसार वे कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरको स्टैलिनसे बड़ा क्रान्तिकारी मानते हैं। प्रगतिमुखी क्रान्तिका एक ठोस बौद्धिक आधार होता है—एक मनोवैज्ञानिक जीवन-भूमि और कठोर वैज्ञानिक चेतना-क्षेत्र होता है। यह क्रान्ति व्यक्तिकी निरपेक्ष जीवन-साधन न होकर जनजागृति और वर्ग-चेतनाकी एक तीखी ललकार होती है जिसे सुनकर दुनियाके शोषित और मज़लूम एक झण्डेके नीचे इकट्ठे होते हैं। इस क्रान्तिका एक निश्चित जीवन-दर्शन और जीवन-विज्ञान होता है।

प्रगतिवाद साहित्यको अपनेमें ही एक लक्ष्य न मानकर, उसे साध्य न स्वीकारकर, मानवीय मूल्यों और वर्तमान सामाजिक सम्बन्धोंमें एक आमूल परिवर्तन—वह भी क्रमिक वैधानिक विकासवादके द्वारा नहीं वरन् सोद्देश्य सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्तिके द्वारा—श्रेणी-संघर्षकी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचार और कर्मधाराके द्वारा घटित करना चाहता है। ऐसा होनेपर ही उस सच्ची सामाजिक स्वतन्त्रताका उदय होगा जो मानव द्वारा मानव के शताब्दियोंसे होरहे शोषणको सदैवकेलिए खत्म करदेगी।

जैसा पहले कहागया है प्रगतिवादका लक्ष्य सजीव, धड़कते हुए सामाजिक यथार्थके माध्यम द्वारा परिवर्तनकी शक्तियों और क्रियाओंकी क्रांतिकारी अभिव्यक्ति है। परन्तु यहांपर आकर एक बड़ा मुग़ालता वे छायावादी और फैशनेब्ल वेदनावादी आलोचक और साहित्य - मीमांसक पैदा करदेते हैं जो एक चिरन्तन रसकी रक्षाका खुदाई ठेकेदार अपनेको घोषित करते फिरते हैं। प्रगतिवाद या कोईभी साहित्य - दर्शन कभी रसकी सत्ताको अस्वीकार नहीं करसकता। परन्तु वह रस वैयक्तिक न होकर सामूहिक हो और इस रसका स्रोत समाजकी सतत परिवर्तनशील परिस्थितियोंसे विमुख, पलायनशील, शारीरिक और वैचारिक संघर्षसे दूर भागनेवाली, अपनेही अन्तर्मलिन जीवनके अन्धकारकी विकृत और कुरूप घुटनमें मुँह छिपाकर बैठजानेवाली, सपनों और संसारकी समस्त दुर्बलताओंमें लिप्त होतेहुए भी तथाकथित आध्यात्मिक छायाओंकी कृत्रिम गुलकारियोंमें भटकनेवाली सामाजिक इकाइयोंकी एकान्तिक जड़तामें हो या श्रमजीवियोंके क्रान्तिकारी संघर्षकी जीवित रसानुभूतिमें, उनके उन सामूहिक आवेगोंमें जिनके उल्लास में थिरककर उनका हृदय श्रमकी कठोरताको तो कम अनुभव करे परन्तु संग्रामकी सर्वभुक प्रतिहिंसाको हृदयमें धधकाये रहे? चिरन्तन, अनन्त, अमिट और शाश्वत जीवन - व्यापारोंकी बात - बातपर दुहाई देनेवाले ये आलोचक जो रसवादके हिमायती बनते हैं यह क्यों भूलजाते हैं कि वास्तविकतासे परे जो कल्पना केवल शून्यमें विचरण करके अपने ही आँसुओं की मोमी और रंगीन चुटीलोंवाली शृंगारसज्जा और अनावश्यक काव्य-वैभवके उपादानोंपर सिर मारा करती है क्या उस रसकी गहनता और घनीभूत परिणतिको कभी पासकती है जो संघर्षोंसे फूटनेवाले सृजनात्मक परिवर्तनोंकी क्रियामें पैदाहोता है। और जो रस, आवेग या उद्रेक जीवनको गति देता है---उसे कर्मकी दीक्षा देकर मानव-कल्याणके ऐतिहासिक पथपर आगे बढ़ाता है, वह न केवल मानवके क्रमविकासके इतिहासकी एक मज़बूत कड़ी है वरन् चिरन्तन भी है। वह रस जो निष्क्रियता, निरुत्साह और स्वार्जित जीवन-अनुभूतिके आधारसे रहित रूढ़ निवृत्तिकी अवसादपूर्ण मनःस्थिति पैदा करे कैसे शाश्वत कहलायेगा? अन्तर्द्वन्द्वोंसे भरी सामाजिक और श्रेणीजन्य यथार्थतासे दूर भागकर जो रसवाद मानवको सदियोंके घिसे, कोरे और अमूर्त (बिना किसी सामाजिक अर्थ के) सपनोंका दास बनादे वह

चिरन्तन है और जो रसवाद मखमली डिब्बोंमें न बन्द करके कठिनाइयों और प्रलोभनोंसे संग्राम करना सिखाये, ह्रासोन्मुख सामाजिक यथार्थोंको नये आदर्शोंसे अनुप्राणित करे और प्रतिक्षण घटित होनेवाली सामूहिक क्रियाओं से प्राणमयी धाराओंका संचय करे क्या अमर नहीं है? यह तर्क केवल उन लोगोंकी समझमें नहीं आवेगा जो रसको एक सजीव सामाजिक अनुभूति का जीवनप्रद प्रबोध न मानकर, उसे एक प्रबुद्ध विश्वबोध न मानकर, एक परम्परा-पोषित और इसीलिए संकुचित चित्तवृत्तिका आस्वाद मानते हैं। रसवादका विरोधी तो केवल राजनैतिक पार्टियोंके पैम्फ़्लेट लिखनेवाला और शुष्क तत्ववेत्ता या उसी प्रकारका कोई व्यक्ति होगा। जोभी साहित्यमें प्रगतिवादको लेकर चलेगा वह कभी रसवादका विरोध नहीं करेगा। परन्तु प्रगतिवादीके रसवादका स्रोत कभी उन आराम देनेवाले और अपनेको भुलादेनेवाले विश्वासोंमें नहीं होगा जो मानवको यह समझाकर उसे आध्यात्मिक विश्राम देतेरहते हैं कि उसकी सारी आपत्तियाँ और अभाव वेश बदलकर आयेहुए वरदान हैं और इस प्रकार उसे निरन्तर चुसते जानेकेलिए प्रोत्साहित करते हैं। इस रसवादका स्रोत उन भ्रामक सत्योंमें नहीं है जो मानवको यह आश्वासन देते हैं कि यापनसे परे उसके जीवनका कोई चिरन्तन उद्देश्य है। प्रगतिवादीके रसवादका स्रोत उस आत्म-स्वीकृति और आत्मज्ञानके अंगीकरणमें भी नहीं है जो "अब सब जानचुका हूँ" ऐसा कहकर जीवनके बढ़तेहुए वृक्षको फलदेनेके पहलेही रोकदेता है और साहित्यकारकी प्रतिभा और कल्पना मकड़ीके जाले बुनाकरती है। प्रगतिवादी के रसवादका स्रोत उस क्रियामें—उस विशेष क्रियामें—है जो जीवनकी सम्पूर्ण और सामूहिक क्रियाका ही एक अङ्ग है। प्रगतिवादी साहित्यमें रसकी उद्भावना, रसानुभूतिका उद्रेक, उस जीवन-स्थलपर होता है जहाँ मानव केवल जीनेकेलिए ही जीवित नहीं रहता वरन् वह अपने अनुभवों को चुनचुनकर उनका विश्लेषण करता है और इस विश्लेषणके फलस्वरूप अपने भविष्यके अनुभवोंको अधिक सुखद बनानेकी चेष्टा करता है—यहाँ सुखद शब्दका प्रयोग उसके व्यापकतम अर्थमें किया जारहा है। मानव यदि अपने अनुभवोंसे लाभ उठाते चलना चाहता है तो उसे सदैव उन्हें व्यापक और चरम मानवीय या सामाजिक रूपमें देखना होगा।

वही साहित्य सदैव स्वस्थ, स्फूर्तिदायक और प्रगतिकी शक्तियों

का प्रवर्तक होगा जो जीवनके चेतनाधारपर स्थित हो और जो जीवनका चित्र होतेहुए भी जीवनसे अधिक हो। अर्थात् जिसमें जीवनका पुनर्सृजन तो हो ही साथही उसके पीछे एक जीवित आदर्शवाद, एक भविष्य-नियामक जीवन-योजना और मानवीय शक्तियोंके सामाजीकरणका सन्देश हो। प्रगतिशील साहित्य ही आज मुख्य रूपसे यह कार्य कररहा है। उसीमें आपको भारतीय जीवनकी समष्टिगत कटुता, कुरूपता, सामाजिक और आर्थिक नवनिर्माणकी छटपटाहट और पूँजीवादकी ढहतीहुई व्यवस्थाके सच्चे चित्र मिलेंगे। प्रगतिवादके अन्दर आकर ही कलाकारकी स्वभाव-जन्य अराजकवादी मनोवृत्तिका समाजोन्मुखी विकासधाराके साथ समन्वय होता है, और इस प्रकार समाजसे विमुख होकर अलग एक समाज-द्रोही जीवन-दर्शन और विश्वबोध विकसित करनेकी उसकी चेष्टा आपसे-आप समाप्त होजाती है।

पुरानी दुनिया आज समाप्त होरही है, और उसके स्थानपर एक नयी दुनिया निर्माणकेलिए छटपटारही है। आज साहित्यकारका एक सांस्कृतिक दायित्व है, परन्तु यह सांस्कृतिक दायित्व पौराणिक कथाओं और चरित्रोंको केवल निर्जीव लीलाभाव या वीरपूजा-पद्धतिसे अभिव्यक्त करनेसे ही पूरा नहीं होजाता। पनपते हुए सामाजिक स्वाधीनताके संग्राम की सतत संघर्षशील चिरविरोधी शक्तियोंको भी समझना और समझाना होगा और जनताको पूँजीवादसे अन्तिम मोर्चा लेनेकेलिए तैयार करना होगा। केवल सपनोंकी चिन्तना और आराधनासे काम न चलेगा। प्रगतिके समस्त तत्त्वोंको जागृतिकी चेतना देकर कर्मकी ओजस्वी प्रेरणा भी प्रदान करनी होगी। साहित्य मानवीय भाग्यपर अधिकार करने और समाजमें अधिक मानवीय, सुखद और सन्तोषप्रद जीवन-स्थितियाँ उत्पन्न करनेका सबसे सबल माध्यम है। कारण यह है कि क्रान्ति पहले विचारों में होती है तब कर्ममें उतरती है। इस माध्यमको जब हम अधिक-से-अधिक रसात्मक बना सकेंगे तभी साहित्यके प्रभावकी परिधिका प्रसार होगा। व्यक्तिके सामाजिक जीवनके निश्चयात्मक आधारोंकी पकड़ और अभिव्यक्ति केलिए साहित्यमें रसकी मनोभूमि तैयार करनी होगी। इसकेलिए साहित्य के प्रति एक जीवनोपयोगी प्रवृत्ति और जीवनदर्शनकी सूक्ष्मताकी आव-श्यकता है। जीवनसे दूर हटानेवाला पलायनशील अध्यात्मवाद इस

बढ़ती हुई सामाजिक शक्तिको उपासनामें घातक ही सिद्ध होगा—भलेही वह सपनोंके भावात्मक आकर्षणोंसे पूर्ण क्यों न हो। सुप्रसिद्ध अङ्गरेज़ लेखक जॉन स्ट्रैचीने अपने 'फ़ैशीज़्म और संस्कृति' शीर्षक एक लेखमें लिखा है—"मनुष्यके मस्तिष्कका विद्रोह, उसकी सम्पूर्ण सत्ताके विद्रोहका आरम्भ, यद्यपि केवल आरम्भ है" समस्त फैशीस्ट राष्ट्रोंमें आज विचारोंकी स्वाधीनता के दमनपर ज़ोर दिया जारहा है और हमारे देशमें भी साम्राज्यशाहीके असह्य बोझ और तज्जनित बढ़तेहुए आर्थिक वैषम्यके नग्न नृत्यने नौकर-शाहीकी इस कुत्सित मनोवृत्तिका पूरा-पूरा उद्घाटन करदिया है। वर्तमान भारतीय समाज भी आज लगभग उसी अवस्थामें पहुँचगया है जहाँ लाल क्रान्तिसे पहले रूसका शोषित और गुलाम समाज था। अन्तर और महान् अन्तर यह है कि हमारे ऊपर एक विदेशी पूँजीवादका निरंकुश शासन है। हमें इस प्रकार विदेशी साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद एवं सामन्त-वादसे दोहरा मोर्चा लेना है। ऐसी स्थितिमें स्वाभाविक रूपसे हमारी दृष्टि साहित्यकी ओर जाती है और साहित्यके भीतरसे हमारा यह क्रान्तिका पुनीत उद्देश्य तभी पूरा होगा जब उसे अधिक-से अधिक प्रभावपूर्ण या दूसरे शब्द में कलात्मक बनाया जाय। साहित्यको केवल शुष्क मतवादके घेरेमें बाँध देनेसे ही लक्ष्यकी उपलब्धि न होगी। यह भी देखना होगा कि क्या कारण है कि प्रगतिशील कहलानेवाली जो सैकड़ों कविताएँ हिन्दीमें लिखीगयी हैं, जो बीसियों जन-गीत और क्रान्तिगान लिखेगये हैं, उनमेंसे कोईभी सुभद्रा कुमारी चौहानकी झाँसीवाली रानी या बच्चनकी मधुशालाकी भाँति लोक-प्रिय नहीं हुई। और इसी तथ्यकी पकड़में हम उन दोषों और दुरूहताओंसे बच सकते हैं जो प्रगतिवादके घेरेको एक मतवादका दायरा बनादेती हैं। हिन्दीके प्रगतिशील साहित्यमें युगपरिवर्तन और जागरणकी सूचना होनेपर भी, परिवर्तनशील वस्तु व्यापारमें केन्द्रित प्रगतिकी विचारधारा और स्पष्ट प्रवृत्ति लक्षित होनेपर भी जीवनके मार्मिक और स्थायी स्वरूपोंके वे जीते-जागते चित्र नहीं हैं जो समय और समाजके घेरेमें बँधे होनेपर भी साहित्यकार की स्वतन्त्र जीवनकल्पना और बौद्धिक सत्ताके परिचायक हों। मेरे बहुतसे प्रगतिवादी मित्रोंको यह बात बुरी लगेगी, परन्तु एक प्रेमचन्द और• केवल प्रेमचन्दके साहित्यको छोड़कर अन्यत्र यह बात नहीं मिलेगी। यही कारण है जीवन की बहुमुखी जागरूकतासे सम्पन्न होतेहुए भी हिन्दीके प्रगतिशील

साहित्यमें सामाजिक यथार्थोका वह आकलन नहीं है जो लेखकके व्यक्तित्वकी सम्पूर्णता और असाधारणताका द्योतक हो, और इसका कारण लेखक या कविकी निरपेक्षता नहीं होती जैसाकि बहुतसे आलोचक भ्रमवश समझते हैं। इसकेलिए लेखकमें वैज्ञानिक-जैसी बुद्धिव्याख्या, दार्शनिक-जैसी सुदूरव्यापिनी अन्तर्दृष्टि और कलाकार-जनोचित संयम चाहिए। साथही वर्णित विषयके प्रति, चित्रित मानवोंके प्रति, वह समवेदनात्मक सामूहिक चेतना और वास्तवको ग्रहण करनेकी शक्ति चाहिए जो एक सात्विक ममतासे आगे बढ़कर न्यायासक्तिका रूप होसके। प्रगतिशील कविता और गद्य दोनोंमें इसका अभाव है, और तभी नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे स्वभाव और संस्कार दोनोंसे ही प्रगतिशील किन्तु कठोर आलोचकको आधुनिक प्रगतिशील साहित्यपर मतवादके आरोपका अवसर मिलजाता है। आग्रह यह नहीं है कि कलाकार रोमैण्टिक धरातल एकदम छोड़कर केवल सत्य-विवेचना ही करें। परन्तु इस रोमैण्टिक धरातलके नीचे बीजरूपमें जीवन की प्रेरक शक्ति निहित होनी चाहिए। साहित्यकी एक स्वतन्त्र सत्ता भी होती है और उसे अक्षुण्ण रखतेहुए भी साहित्यकार प्रगतिकी शक्तियोंको बल देसकता है। प्रगतिकी शक्तियोंके इस कलात्मक संगठनमें भावनाकी अपेक्षा बुद्धि अधिक अनिवार्य है ऐसी बात भी नहीं है। भावनाके उत्कर्ष में जो एक इमोशनल ड्राइव होता है वह कोरी बौद्धिक लन्तरानियों से अधिक जीवनोन्मुख है और उसे एकदम गौण ठहरादेनेसे भी काम नहीं चलेगा। कलामें भावनाका संयमित प्रवाह ही उसे वह सार्वभौमिक रूप देता है जो आजभी अधिकांश प्रगतिशील कलामें देखनेको नहीं मिलता। भावनाके माध्यमसे भी सामाजिक संगठनमें क्रान्तिका बीज-वपन किया जासकता है और बौद्धिकता तो नकली होनेपर एक क्षयग्रस्त युवक की छाती निकाल अकड़कर चलनेकी चेष्टाकी भाँति कृत्रिम और हास्यास्पद होजाती है। इसलिए हमारे जो कलाकार स्वभाव और संस्कारसे बौद्धिक नहीं हैं और केवल सरसताके माध्यमसे ही जीवनकी आलोचना करते हैं किसी प्रकारकी हीनताका संकोच अनुभव न करें। जिस साहित्य में चेतनाकी रोमैण्टिक स्थापना होती है वहभी प्रगतिशील होता है और बलात् ठूँसेगये विचारतत्वसे उसका नैसर्गिक प्रभाव अधिक सुखद और स्थाई होता है। शर्त केवल यह है कि उसमें जीवनकी समष्टिगत और यथार्थ,

स्वस्थ और प्राणदायक व्याख्या हो। केवल समझौतेका नीतिदर्शन अर्थात् फ़िलॉसॅफ़ी ऑव कॅम्प्रोमाइज़ उसमें न ध्वनित हो। उसमें भीतरसे सांस्कृतिक अभ्युत्थान और जीवनयापनके साधनोंकी समतापर आधारित सामाजिक नवनिर्माणका सन्देश हो। नहीं तो जिस 'मानसिक पूँजीवाद' और 'जीवनके दारिद्र्य' का आरोप महादेवीजी आधुनिक साहित्यपर करती हैं—यद्यपि उनके साहित्यमें भी वह प्रमुख रूपसे वर्तमान है--उससे कला की मुक्ति न होगी।

बुद्धिवादकी ओर आज हिन्दीका छायावादी कवि और आलोचक विशेष रूपसे आक्रमणशील है। कारण, जिन सपनों और रूढ़-विश्वासों या पौराणिक विकृतियोंको उसने अपने तरल, कोमल, करुण आँसुओंकी वर्णच्छटासे माँज-माँजकर चमकाया और वर्षों साहित्यके बाज़ारमें निपुण-व्यवसायीकी भाँति सँजोये रक्खा वे मार्क्सवादी बुद्धिवादके प्रखर प्रकाश में ढहनेलगते हैं। महादेवीजीने अपने छायावाद-शीर्षक लेखमें तथा अपने अन्य निबन्धोंमें आधुनिक साहित्यमें उठतीहुई बुद्धिकी लहरका ज़ोरोंसे विरोध किया है, और इस प्रकारके साहित्यकारोंको बुद्धिवादी, बुद्धिजीवी, बुद्धि-व्यवसायी आदि शब्दोंमें बारबार याद किया है। जहाँ तक इस वर्ग-विशेषकी एकांगीय मनोवृत्तिका विरोध है वहाँतक देवीजीके साथ सहमत होतेहुए भी यह कहना पड़ता है कि देवीजीके आरोपोंमें जो एक कठमुल्लापन आगया है वह भी उनकी एकांगी और अतिवादिनी मनोवृत्तिकाही परिचायक है। परन्तु साहित्य केवल अनुभूतियोंका संचय-मात्र नहीं है। वह अनुभूतियोंका बौद्धीकरण (रैश्नैलाइज़ेशन) भी प्रस्तुत करता है। जैसा पहले कहा जाचुका है मानव सदैव अपने अनुभवोंसे लाभ उठाता चलता है, और अनुभूतियोंके इस विवेकीकरणमें ही साहित्य की सार्थकता है। तभी साहित्यकी भूमिपर एक गहरी सोद्देश्यताका अंकुर पनपता है। साहित्यकेलिए साहित्य या कलाकेलिए कला एक मानसिक विलासके अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसीलिए महादेवीजीकी प्रचुर रंगीनियों से पूर्ण कवितामें अधिकांश रूपसे जो जीवन-निरपेक्ष रस, कोरा अलङ्कार और शब्द-सज्जा-प्रसाधन मिलता है उसमें सौन्दर्यानुभूति और मार्मिकता होतेहुए भी एक ऐसीगहरी एकरसता या मॅनाटॅनी मिलती है जो मानवताके आधारभूत जीवन तत्वोंको स्पर्श नहीं करती और जीवनको अधिक व्यापक

पर्यवेक्षणमें देखनेवाले, विषमताओंसे ग्रस्त नवयुगके सजग पाठकको उन से सन्तोष नहीं होता। यह सत्य है कि 'अनुभूतिकी दरिद्रता' कभी 'बुद्धि वैभव' से पूर्ण नहीं कीजासकती और प्रगतिशील साहित्यमें अनुभूतिकी यह दरिद्रता और फलस्वरूप प्रभावकी कमी खटकती है, परन्तु रचनात्मक साहित्य को बुद्धितत्वसे अलग रखनेकी चेष्टा, उसे केवल भाव-व्यापारोंका व्यक्ती-करण मानना उस शुतुरमुर्गी अहंकी भाँति है जो अपनेमें अधिकाधिक डूबकर अन्धड़ों और तूफ़ानोंसे पलायन करना चाहता है। इससे तो सामाजिक और साहित्यिक स्वास्थ्यमें विकृत होनेकी ही सम्भावना है और बौद्धिक परिष्कारके बिना साहित्यमें वह विचारोत्तेजकता नहीं आसकती जो उसकी उच्चताकी पहली शर्त है।

प्रगतिवादपर दूसरा आक्षेप प्रायः उसकी आदर्श-विमुखता और नग्न यथार्थवादी परिणतिकेलिए कियाजाता है। इसमे सन्देह नहीं कि हिन्दी में यथार्थवादके नामपर आज एक ऐसे आदर्श-स्खलित, अशिव और विकृत साहित्यका निर्माण होरहा है जिसे भ्रमवश प्रगतिवादी समझा या समझाया जाता है। यहाँ श्लीलता और अश्लीलताके प्रश्नको उठाना हमारा ध्येय नहीं है, परन्तु प्रत्येक हिन्दी-लेखक और कविको यह जानलेना चाहिए कि उच्च और प्रगतिशील साहित्य सदैव 'स्वस्थ और सबल सृष्टिका हिमायती होता है।' महादेवीजीने ऐसे कोरे यथार्थवादी लेखकोंके प्रति अपने आलोचनात्मक गद्यमें जो विचार प्रकट किये हैं वे मननीय हैं, और उनकी आलोचना करते हुए एक यथार्थवादी लेखकने सम्मेलन-पत्रिकामें जो विचार प्रकट किये हैं वे पढ़ने और सुननेमें तो बड़े अच्छे लगते हैं परन्तु वे लेखक महोदय स्वयं अपने साहित्यमें उनका शिव-रूप प्रकट नहीं करपाये हैं। "समाजकी छाती पर घुनकी तरह बैठेहुए विकृत किन्तु ज्वलन्त यथार्थका चित्रण होना चाहिए यह मानते हुए भी प्रगतिवादी कभी जीवनकी उन विकृतियोंमें रस नहीं लेगा जैसा इलाचन्द्र जोशी जैसे कथाकार पग-पगपर करते हैं। जोशीजीके सम्पूर्ण साहित्यका एक सजग पाठक होतेहुए भी मुझे स्मरण नहीं आता कि कभी उनकी लेखनीने एकभी स्वस्थ और बलिष्ट चरित्रका चित्रण किया हो। जो यथार्थवाद चित्रणसे आगे बढ़कर उन गर्हित सामाजिक अङ्गोंके परिष्कार और, यदि परिष्कार असम्भव हो तो, उनके आमूल नाशकी प्रेरणा नहीं देता वह और चाहे जो हो प्रगतिवादी या समाजवादी यथार्थवाद नहीं

है। प्रगतिवादमें यथार्थ-चित्रण एक साधन है—साध्य नहीं। इसलिए जिन यथार्थवादियोंने जीवनकी भ्रष्टताओंको भ्रष्टताओंकेलिए, विकृत गन्दगियों को केवल गन्दगियोंकेलिए अपनाया है उन्हें सावधान होजाना चाहिए। आज भलेही वे अपनी किताबोंकी बिक्री और लोक-प्रचारपर हर्षित होलें परन्तु अन्तमें उनकी यह असामाजिक प्रवृत्ति निन्दनीय और गर्हित ही मानी जायगी। यथार्थवाद अधिक-से-अधिक जीवन-आलोचना और जीवनाभिव्यक्तिकी एक चोट करनेवाली प्रणालीके रूपमें ही ग्रहणीय है—वह कभीभी एक स्वतन्त्र जीवनदर्शन और साहित्य-विज्ञानका रूप और स्थान नहीं होसकता। इस प्रसङ्गमें यूनानी दुःखवादियों और फ्राँसीसी वस्तुवादियों की पग-पगपर दुहाई देनेसे काम नहीं चलेगा। मेरे कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि ऐसे लेखक सेक्सका बहिष्कार करें और केवल नीरस नीतिवादिनी कृतियाँ लिखें। इसके विपरीत सामाजिक कुरूपताओं, वैयक्तिक अपूर्णताओं और कौटुम्बिक असौख्यको वे इस प्रकार वैज्ञानिक ढङ्गसे स्वीकृत करें कि हम उनका कारण आजके विषम धन-विभाजन, सामाजिक संघटन और आर्थिक शोषणमें पकड़सकें, और इस प्रकार वर्तमान श्रेणी-समाजको नष्ट करके एक श्रेणीविहीन स्वाधीन साम्यपर आधारित समाजकी स्थापनाकी ज्वलन्त-जीवंत प्रेरणा पासकें। बुद्धि और शक्ति रखतेहुए भी समाजका एक वर्ग दूसरे वर्ग के सुखका साधन बनकर आजीवन आर्थिक शोषणमें ही अपना हाड़-मांस न गलाता रहे। औद्योगिक क्रान्तिके बाद समाजमें जो यह श्रेणी-वैषम्य बढ़तागया -- धनका पूँजीके रूपमें परिवर्तित होकर थोड़े-से लोगोंमें ही केन्द्रीकरण होतागया— धनी अधिकाधिक धनी और ग़रीब अधिकाधिक ग़रीब होतेगये—इस निष्ठुर अन्यायपूर्ण सामाजिक क्रियाने व्यक्तिको कितना गिरादिया और उसके मनोविज्ञानको कितना विकृत करदिया यह हमारे यथार्थवादी लेखक नहीं देखते। न देखनेकी चेष्टा करते हैं न समझनेकी। उन्हें तो व्यक्तिके अशुभ अहंके ऊहापोहसे ही अवकाश नहीं मिलता। व्यक्ति की चारित्रिक असाधारणताओं (ऐबनॉर्मैलिटीज़) का स्वाद ले-लेकर और एक बड़ी सीमातक 'विश फ़ुलफ़िल्मेन्ट' करके ये लेखक होटलबाज़ी, शराबख़ोरी, आत्महत्या, परस्त्रीगमन और व्यभिचार-बलात्कारका चित्रण तो करते हैं परन्तु इनके मूलकारणोंकी ओर कभी दृष्टि नहीं लेजाते। केवल चित्रणके लिए चित्रण उनका उद्देश्य होता है, और महादेवीजीके शब्दोंमें तरह-तरह

की अश्लील उत्तेजनाओंसे वे अपने द्वारा चित्रित मानवीय भाव-व्यापारों और विकारोंमें कृत्रिम उष्णता भरते हैं। इस विकृत और भ्रमित यथार्थवादकी सहायतासे वे भलेही जीवनकी कीचड़से प्राणपोषक तत्वोंके खींचनेका दावा करें परन्तु वास्तविकता तो कुछ दूसरी है। जीवनका स्वस्थ विकास और पोषण क्या कभीभी ऐसे कलङ्कित रससे हुआ है? प्रगतिवाद इस सम्बन्धमें अपना असंदिग्ध और निश्चित मत बनाचुका है। जो यथार्थवाद जीवनमें एक मूल्यवान मांगलिक आदर्शके स्वप्नको लेकर नहीं चलता और जीवनकी नालियोंमें बहनेवाले मलमूत्रको ज्यों-का त्यों पाठकके मुँहपर फेंकता चलता है, बिना उन सामाजिक स्थितियोंकी वैज्ञानिक जाँच कियेहुए जो इन विकार-विकीर्णक स्तरोंका निर्माण करती हैं, वह अशिव है और उससे तो समाजमें एक अस्वस्थ विलासिता और निष्क्रियताका ही प्रसार होगा। प्रगतिवादमें यथार्थवाद एक मुक्त उच्छृङ्खल जड़वाद या 'हेडॅनिज़्म' बनकर नही आया जिसमें लेखक लुक-छिपकर जीवनके छिद्रोंसे झाँकता रहे और भीतरकी कलुषित शृङ्गारिकताओं और स्खलित मानसिकताओंको देख-देखकर तृप्त हुआ करे। इसके विपरीत प्रगतिवादमें यथार्थ चित्रण समाज संस्कारके पुनीत उद्देश्यको लेकर किया जाता है। एक सजीव, साकार, सोद्देश्य सामाजिक आदर्श लेखकके सम्मुख प्रति क्षण रहता है जो उसे परिचालित करता है और जिसके कठोर नियन्त्रणके कारण वह क्षणभरकेलिए भी बहक नहीं सकता।

जिस यथार्थवादकी परिणति आदर्शात्मक परिष्करणमें नहीं होती वह बेमानी है और उससे न कभी साहित्य या समाजका भला हुआ है न होगा। पाठकके शिक्षा-ग्रहण करनेके पहले लेखकको भी वह शक्ति और संस्कारशीलता अर्जित करनी होगी जो पाठकको एक निश्चित सम्भाव्य आदर्शकी ओर प्रेरित करसके। जीवनकी पंकिलता यदि साहित्यमें यथार्थ चित्रणकी वृत्तिको प्रोत्साहन और प्रश्रय देती है तो आदर्शकी उपलब्धि की सम्भावना उसे उन द्वन्द्वात्मक आन्दोलनोंका सूत्रपात करनेकी प्रेरणा भी प्रदान करती है जिनके बिना सामाजिक स्थितियोंको स्वस्थतम और उन्नततम रूप नहीं मिलरहा। बौद्धिक क्रान्ति, राजनीतिक उथल-पुथल, फ़ैशीज़्म और जनतन्त्रके इस अन्तिम महासंग्राम और सामाजिक आन्दोलनोंके इस विषम युगमें साम्यवादके अखण्ड और सुनिश्चित, सबके

कल्याण और सुखपर आधारित जीवनादर्शकी ओर लोकक्रान्तिके पथपर होतेहुए आगे बढ़ना ही आजके साहित्यिक यथार्थवादीका उद्देश्य होना चाहिए। जनताकी सामूहिक उन्नति और जीवन्मुक्ति ही आज समस्त साहित्यिक धाराओं और वादोंका लक्ष्य है। यथार्थवाद, कला और मनोविश्लेषण, फ्रायड और मनस्तत्व-निरूपणके नामपर उससे मुख नहीं मोड़सकता।

हिन्दीमें एक दल ऐसे समन्वयवादियों और सामञ्जस्यके हिमायतियोंका है जो साहित्यके मूल उद्देश्य और कर्मके साथही समझौता करना चाहता है और प्रगतिवादमें उन्हें सब तरफ़ एक सीमान्तवाद या अतिवाद मिलता है। जहाँतक साहित्यके भिन्न-भिन्न गौण अङ्गोंका सम्बन्ध है वहाँतक तो यह समन्वय और सन्तुलनकी बात समझमें आती है, परन्तु साहित्यके मूल हेतु या समस्त विरोधाभासोंसे परे प्रत्यक्ष, ज्वलन्त और युग-युग-व्यापी, लोक-स्वीकृत आदर्शके साथही जब समझौता कियाजाता है तो स्पष्टही मानवताका वैषम्य और वैपरीत्यसे भरीहुई जटिल समस्याओंसे मुख मोड़कर भागनेकी चेष्टा नज़र आती है। समस्त स्थूल और परिवर्तनशील जीवन-दृष्टियोंसे परे, समस्त वादों और विवादोंसे ऊपर साहित्यका एकही लक्ष्य है और साहित्यकी उच्चता और लोकव्याप्तिकी वही कसौटी भी होनी चाहिए। साहित्यका यह महान् लक्ष्य है कि मानवताकेलिए अधिकाधिक सुखद, सन्तोषप्रद, स्वाधीनतापूर्ण और श्रमकी कठोरताको कम करनेवाली जीवन-दृष्टियां और जीवन-स्थितियोंका प्रवर्तन करे। प्रगतिवादमें यदि ऊपरसे विनाश और विध्वंसकी माध्यम-निष्ठा दिखायी पड़ती है तो घबड़ाना नहीं चाहिए। उसकी यथार्थ दृष्टि सत्यसे विमुख नहीं होती तभीतो वह इस अप्रिय कटुताका उद्घाटन करती है। साहित्यका केवल एक कर्म है—मानवको समस्त बन्धनोंसे मुक्त करके उसकी व्यक्तिगत और सामूहिक स्वतन्त्रताका अधिक-से-अधिक विस्तार करना। यहाँ मेरा अभिप्राय किसी अराजकवादी वृत्तिसे न समझा जाय। साहित्यका ध्येय तो उन सभी सामूहिक संघर्षोंका साथ देना है जो उन्नततम सामाजिक स्थितियोंके निर्माणकेलिए मानवसमाज युग-युगसे करता आया है। व्यक्तिके अन्तर्जीवनसे समाजका अन्तर्जीवन और व्यक्तिकी बाह्य स्थितियोंसे समाजकी गतिशील स्थितियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। व्यक्तिसे समूह, समूहसे देश और देशसे विश्वके हित अधिक महत्वके हैं। केवल इस तथ्यकी पकड़में ही सौन्दर्य्यानुभूति, आध्यात्मिकता, रहस्यवाद और

छायावादके नामपर चलनेवाले उस निष्क्रिय और निर्जीव व्यक्तिवादका यथार्थ रूप हमारे सामने आजायगा जो एक युगसे हमारे जीवन और साहित्यपर अधिकार जमाये पड़ा है और युग-विशेषमें एक प्रगतिशील शक्ति होतेहुए भी आज जो हमारी प्रगतिका मार्गावरोध कररहा है। साहित्य जबतक व्यक्तिके जीवन-दर्शनसे आगे बढ़कर समाज और जाति, श्रेणी और वर्गके मूलगत जीवनका दर्शन और विज्ञान नहीं बनता तबतक वह एक विडम्बना है। क्षमता होनेपर समाजवादी कलाकार भी स्थूलदर्शिता से ऊपर उठकर उसी सौन्दर्य्यानुभूति और सूक्ष्म मानवीय चेतनाका उद्-घाटन करसकता है जिसकी दुहाई व्यक्तिवादी कलाकार और कवि, आलोचक और साहित्य शास्त्री पग-पगपर देते हैं। साहित्यमें केवल सामाजिक-प्राणकी प्रतिष्ठा होनी चाहिए। उससे अभ्युदयशील सामाजिक कर्मकी दीक्षा मिलनी चाहिए। प्रगतिवादमें केवल स्थूल वास्तविकताका बोध ही नहीं है, उसमें बाह्यका केवल सीमित अनुशीलन नहीं है, जैसा प्रगतिवाद के पेशेवर विरोधी घोषित करते फिरते हैं। यों छायावादकी पलायन-वृत्ति की चाहे अपनी योग्यता और मननशीलताके कारण कितनोभी ज्ञानगर्भित व्याख्या महादेवीजी क्यों न करें और उसका जितना चाहे उदात्तीकरण वे करें परन्तु पलायन वस्तुतः है एक असामाजिक क्रिया और साहित्य कभीभी किसी असामाजिक क्रियाको प्रश्रय नहीं देता। समाजकी शक्तियाँ जब दुर्बल पड़ने लगती हैं तभी व्यक्तिवाद ज़ोर पकड़ता है और आज जब सामूहिक जन-क्रान्ति और जन-जागृति, जन-कल्याण और जन-युद्धका युग है तब व्यक्तिवाद और साहित्यकी व्यक्तिवादी मान्यताओंको कैसे प्रश्रय मिलेगा। महादेवीजीने छायावादियोंके पलायनको अन्तर्जीवनके सम्बन्धमें रागात्मक चिन्तनको एक सहज स्वाभाविक प्रेरणाका फल माना है। परन्तु वह रागात्मक चिन्तन कितना झूठा है जो समष्टिके सुख-दुखकी उपेक्षा करके, समाजमें पग-पगपर बोलनेवाले दैन्य, दुःख, गरीबी, बीमारी, आर्थिक अपहरणकी ओर ध्यान न देकर एक कल्पित आध्यात्मका सुर छेड़ाकरती है जिसका न तो कोई सामाजिक मूल्य है और न आदर्शात्मक ही। कारण, आदर्शकी मनोभूमि भी सपनोंमें न होकर यथार्थकी सक्रियतामें होती है। देखकर हैरत होती है कि जिस ज़मानेमें लोग अधनंगे और आधेपेट भी नहीं रहपाते उस ज़मानेमें भी छायावादियोंकी यह रागात्मक प्रेरणा केवल

रूपके कणोंपर जीवित रहती है। महादेवीजीकी बङ्गालके अकालपर लिखी गयी और बङ्गदर्शनमें संकलित कवितामें कहां एक पंक्ति भी तो नहीं है जिसमें सच्चे तो क्या कल्पित भूखे और नङ्गेका ही चीत्कार कहीं मुखरित हुआ हो। उनसे हम बङ्गालकी भौगोलिक और ऐतिहासिक प्रशस्ति या सौन्दर्यके मनोरम चित्रोंकी ही आशा नहीं करते थे। आखिर इस जीवन-संघर्षसे पलायन नहीं तो क्या कहेंगे? पलायन, चाहे जब हो और जैसा हो, सदैव साहित्यकेलिए एक घातक क्रिया है; और चाहे वह सुरुचिके नामपर हो चाहे अध्यात्मके, चाहे कलाके नामपर हो चाहे नीतिके वह जीवनकी ओरसे विमुख और शिथिल ही करेगा।

प्रगतिवाद हिन्दीमें अभी बननेके क्रममें है। छायावादी साहित्यिक संस्कृतिके ढहतेहुए स्तूपपर खड़े होकर जो विचारक वास्तविक जीवनसे भागकर अन्तर्मुखी रागात्मक वृत्तियोंकी दुहाई देकर उसका विरोध करते हैं उन्हें हम रोक नहीं सकते। परन्तु इतना निवेदन अवश्य करेंगे कि 'वाद' ऐतिहासिक आवश्यकताके प्रतीक होते हैं। वे न कभी बुलानेसे आते हैं और न हायतोबा मचानेसे भागते हैं।

प्रगतिवादका स्वरूप

सुनते हैं बँगलाके उपन्यास-सम्राट् बंकिम बाबूसे उनके अन्तिम दिनोंमें किसीने पूछा : अब आप उपन्यास क्यों नहीं लिखते ? उन्होंने उत्तर दिया : उपन्यास अब क्या लेकर लिखाजाय ! अबतो उसके उपकरणोंका ही अकाल-सा होगया है। किन्तु हम साश्चर्य देखते हैं कि उस युगान्तरकारी कलाकारके बाद उसी भूमिमें रवीन्द्र और शरत्-जैसे कलाके जादूगर हुए और आजभी नवीन प्रतिभाओंकेलिए उपादानका वैसाही प्राचुर्य है।

आखिर क्यों ? क्योंकि राजनीतिकी तरह विषय-वस्तुके नामपर साहित्यमें कभी 'डेडलॉक' उपस्थित नहीं होसकता (साहित्यका आधार जीवन है। एक ओर संसारकी अनन्त घटना-परम्परा है, दूसरी ओर है नित्य वैचित्र्यमय मानव-चरित्र। इन्हीं दोके घात-प्रतिघातोंमें जीवन है और वही काव्य, नाटक, उपन्यास आदिका उपकरण है) यह आशङ्का कदापि नहीं कि जीवनकी यह तरङ्गित मन्दाकिनी कभी किसी मरुथलमें अपना अस्तित्व खोदेगी। साहित्यकेलिए उपादानोंकी कमीका प्रश्न व्यर्थ है। सूर्यकी शक्ति क्रमशः क्षीण होती आरही है, संसारकी खानोंमें कोयलेका परिमाण कमता जारहा है, वैज्ञानिकोंकी यह चिन्ता कदाचित निर्मूल न हो; परन्तु साहित्य-कारकेलिए प्रकृति तथा जीवनके अथाह सागरमें भाव और विषयके मोती दुर्लभ न होंगे, बशर्ते कि साहित्यकारमें प्रतिभा, अन्तर्दृष्टि और साधना हो।

वास्तवमें (साहित्यकेलिए हमारा जीवन नहीं है, जीवनकेलिए ही साहित्य-शिल्प है। जीवनका स्वाभाविक धर्म गतिशीलता है) सृष्टि-निर्माता ने जीवनके ऐसे पाँव दिये हैं और उन पाँवोंमें ऐसी गति दी है जो न थकने की है, न रुकनेकी। (जीवन चलता है, इसीलिए युग और जगत् चलता है) जीवनकी गति, उसकी साधना जब कोई विशेष रूप लेलेती है तो नये युगका आविर्भाव होता है। (जीवन भी कभी युगको बदलता है, कभी युग जीवनको। जीवनपर युगका प्रभाव होता है, युगके ललाटपर मानवके श्रम

का टीका लगता है। फलस्वरूप साहित्य युग और जीवनके प्रभावसे अनुप्राणित होता भी है, युग और जीवनको भी अनुप्राणित करता है।

जो साहित्य निर्जीव काग़जके पन्नोंपर तैयार होता है वह निर्जीव नहीं होता; उसमें युग-युगतक जीवनके प्राण बोलते रहते हैं। जिसमें यह स्थायित्व शक्ति और सजीवता नहीं, उसे हम साहित्य ही नहीं कहसकते। जीवन-यात्रीकेलिए साहित्य उसका पाथेय है, जो निरन्तर उसके साथही रहता है। जीवन और साहित्यके बीच कोई सीमा-रेखा नहीं। लोग साहित्य को जीवनका दर्पण मानते हैं, हम साहित्यको जीवन मानते हैं। अतएव हमारी तो व्यक्तिगत धारणा है कि साहित्यकेलिए प्रगतिशीलताका सवाल मूलतः कोई मूल्य नहीं रखता। प्रगतिशीलताका प्रश्न तो तब आसकता है, जब हम जीवनको गतिशील न मानें। अन्ततः प्रगतिवादमें साहित्यका जो धर्म मानाजाता है कि वह जीवनका अनुगामी हो, उसके अनुसार भी प्रगतिशीलता साहित्यका स्वभाव सिद्ध होता है। बल्कि एक विशेष गुण साहित्य का यह भी देखाजाता है कि वह जीवनका अनुगामी ही नहीं, नियामक भी है।

मानवी सभ्यताके विकासके साथही जीवनसे काँधा मिलाये साहित्य भी बढ़तारहा है। धर्म, राजनीति और सामाजिक व्यवस्थाके एक नहीं हज़ारों आन्दोलन हमारा साहित्य देखचुका है। ऐसे अनेक साहित्यिक आन्दोलन भी होचुके हैं जिनका सम्बन्ध सामाजिक या सांस्कृतिक प्रगतिसे रहा है और-उन आन्दोलनोंसे किसी-न-किसी नवीन धाराको प्रोत्साहन मिला है। और तो-और हिन्दी साहित्यके पिछले तीस वर्षोंके अन्दर ही नयी भावधाराकी प्रतिष्ठाके कई आन्दोलन होचुके, जो विभिन्न वादोंके नामसे मशहूर हैं।

हमारी अपनी तो मान्यता है कि साहित्यकेलिए प्रगतिशीलता कोई नवीन बात नहीं, न ही आजकी बात है। पुरातनको बार-बार नया बनालेना ही साहित्यका शक्तिमन्त्र है, और युगको युग-युगका बनादेना ही साहित्यका जादू है। अतएव आज साहित्यकी जिस भाव-धाराको हम प्रगतिवाद कहते हैं उसमें यदि ये गुण मौजूद हों तो वह न निस्सार है न त्याज्य। प्रगति वास्तवमें नवीनताका पर्याय है, जिसकी मर्मवाणी विमल और उद्देश्य महत् होना चाहिए। नवीनता केवल एक नशा न हो, जैसे नवीनताके नशेमें कभी योरॅपका साहित्य नष्ट होगया। नवीनतासे हमारा अभिप्राय सब प्रकारसे उन्नति और कल्याणका ही है, इसलिये वह काम्य भी है।

प्रगतिका मूल रहस्य यही है, इसमें मलिनता एवं संकीर्णताका स्थान ही नहीं। सामयिक उपादानोंके अवलम्बनसे ही साहित्यमें अमरता और स्थायित्व नहीं आता, यह माननेकी बात नहीं। यह तो साहित्यकारकी प्रतिभा, योग्यता और अन्तर्दृष्टिपर है। एक स्थानपर रवीन्द्रनाथने दिखाया है कि साहित्यके विषय उपादान तो पुराने ही होते हैं। वे उपादान प्रतिभाशाली साहित्यकारसे प्रार्थना करते हैं कि हे कवि, हे साहित्यिक, मुझ चिरपुरातन को तुम कल्पनाके जादूसे सर्वथा नवीन करदो।

प्रगतिवादी साहित्यके ढाँचेमें युगका रंग हो, उसकी हड्डी-पसली सामयिक तत्वों और वस्तुओंसे चाहे तैयार हुई हो, पर उसके प्राणमें नित्य सत्यकी ज्योति और शक्ति आवश्यक है। इसी कारण साहित्यमें उपादानों का उतना महत्व नहीं होता जितना कि उसकी सार्थक संयोजनाका। यह शक्ति आत्माके अन्तरतमकी वाणी है, जो सर्वापेक्षा अभिनव एवं सुन्दर संगीत है। प्लेटोने माना है कि यह संगीत प्रत्येक हृदयमें सुप्त है। साहित्य मानव मनके इसी सुप्त संगीतसे आवेदन करता है। जिस रचनामें उस सोये संगीतको आन्दोलित करनेकी क्षमता नहीं, उसे साहित्यकी पंक्तिमें तो हर्गिज जगह नहीं मिलसकती।

साहित्यके किसीभी प्रगतिशील आन्दोलनकी अन्तःप्रेरणा अगर शाश्वत सत्यकी उपेक्षा नहीं करती तो वह बेशक स्थायी होता। नित्य सत्य की उपेक्षा करके वह बालूपर भीत खड़ा करेगा, पिरैमिड, बरबुदर या ताजमहल नहीं। सत्य-विरोधी सृष्टि विश्वामित्रकी प्रतियोगितावाली सृष्टिके समान भस्मसात् होजाती है।

हम प्रगतिवादी आन्दोलनके उद्देश्यपर लांछन नहीं लगाना चाहते; उसके स्वरूपपर आपत्ति अवश्य है, और वह यह कि इस आन्दोलनका स्वरूप व्यापक नहीं एकांगी है। यह आन्दोलन वर्गवादी है। समाजके शोषित वर्गोंके प्रति सहानुभूति, सामन्तशाहीसे लड़नेकेलिए विद्रोहकी भावना तथा आत्मविश्वासको जगाना ही इसका उद्देश्य है। सामाजिक असमानताको दूर करना, पिसीहुई मानवताको मुक्त करनेका प्रयास करना अपेक्षित है। ऐसी नवीनता, ऐसी क्रान्तिका उद्बोधन अधिकतर लोग चाहेंगे। किन्तु जहाँ प्रगतिवादी डिक्टेटरकी तरह यह घोषित करते हैं कि वामनके इन तीन डगोंमें ही त्रिलोक है, इस सीमाके बाहर साहित्य नहीं, तो आपत्ति उठ

खड़ी होती है। वनवासिनी सीताकी कुटियामें लक्ष्मणने एक अनुल्लंघ्य रेखा खींचदी थी, ऐसी रेखासे साहित्य तो कुण्ठित होजाता है। मनीषि रोम्याँ रोलाँ तकने प्रगतिवादी क्रान्तिके आदर्शको इतना संकीर्ण नहीं माना है। उन्होंने लिखा है, प्रगतिवादी क्रान्तिका आदर्श वर्गविशेषका लाभ नहीं, वह पार्टीविशेषकी सम्पत्ति नहीं। उसका ध्येय तो अन्तर्राष्ट्रीय और शाश्वत होना चाहिए। क्रान्ति तो उन लोगोंका महल है जो मानवताका विकास चाहते हैं। यह तुम्हारा है, मेरा है, उसका है, सबका है। क्रान्ति का सत इसमें है कि जीवनकी रेखाएँ ओझल न होजायँ, उनकी गति अमर हो।

प्रगतिवादपर नहीं, प्रगतिवादी आन्दोलनके वर्तमान स्वरूपपर ही कुछ विवेकशील व्यक्ति आशङ्कित हैं। कई अन्य वादोंकी तरह प्रगतिवाद भी विदेशी हवाके साथ आया है। वर्गवादकी संकुचित सीमामें साहित्य को निबद्ध करनेकी पहली प्रचेष्टा फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिके साथ हुई। वॉल्ते-यरकी क़लम उस क्रान्तिकी जननी थी। उस समय योरॅपमें इस मनोवृत्ति का बड़ा व्यापक प्रसार हुआ। दूसरी बार रूससे ज़ारशाहीका अन्त करने तथा किसान और मज़दूरोंका राजनीतिक एकाधिपत्य स्थापित करनेमें इसकी जो सफलता हुई, उससे समग्र संसार चकित ही नहीं हुआ मुग्ध भी होगया। पीड़ित भारतकेलिए, जो सदियोंसे परतन्त्रताके यूपकाष्ठमें बलिदानके बकरे की तरह तड़पता रहा है, रूसकी इस विजयमें ज़रूरतसे ज़्यादा आकर्षण था। इसकी निष्पेषित आत्माने इसी आदर्शमें अपने कल्याणकी किरण देखी। यन्त्रयुगकी घातक देनसे भारत भी तो वंचित नहीं, तज्जनित सारी असुविधाएँ भी इसके हिस्से पड़ी। यहाँ भी पूँजीवादने सुख-शान्तिके जन्मसिद्ध मानवी अधिकारोंको वर्ग-विशेषकी मुट्ठीमें करदिया। धन, बल और विद्या, तीनों समाजकी एक श्रेणी विशेषकी होगयीं और उस श्रेणीके मुट्ठीभर लोगोंके हाथकी कठपुतली करोड़ों-करोड़ लोग होगये। इसलिए भारतमें भी प्रगतिवादी भावनाका ईंधन एक प्रकारसे जमा था, चिनगारी विदेशसे आकर पड़गयी। फ्रान्स और रूसके साहित्यकारोंने राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्थाके संस्कारमें अपने जीवनकी जिस साधना और तपस्याको संलग्न किया था, भारतके सामाजिक और राजनीतिक अभ्यु-त्थानकेलिए यहाँके साहित्यकारोंका वही आदर्श होगया।

वर्तमान प्रगतिवादी आन्दोलनको अस्वाभाविक नहीं कहा जासका, नवीनता वर्जनीय भी नहीं है। किन्तु हमारा मतभेद वादके वर्तमान स्वरूपसे है जिसे हम ग्रहण कररहे हैं। साहित्यके दरबारमें सभी वर्ग और श्रेणियों का समान महत्व है, इसमें सभी भावों एवं विषयोंका सहज परिपाक हो सकता है। साहित्यकी यह जो समन्वयशीलता है, इसको खण्ड-खण्ड करके देखनेका कोई उपाय नहीं। साहित्य नीति नहीं, साहित्य राजनीति नहीं, इतिहास नहीं; किन्तु साहित्यकी परिपूर्णतामें सबका अपूर्व समावेश है। साहित्य वास्तवमें वह सागर है जिसमें विभिन्न भावोंकी अनेकानेक धाराएँ आकर पर्यवसित होती हैं, फिरभी उसके रङ्ग-रूप और स्वभावमें कोई अन्तर नहीं आता।

प्रगतिवादको वास्तवमें राजनीतिक स्वार्थ-सिद्धिका एक साधन बनाया जारहा है। इस भाव-धारामें एक यह भी मनोवृत्ति देखीजाती है कि प्राचीनको महज़ इसलिए बुरा कहो क्योंकि वह प्राचीन है। वस्तुवाद और मनोविज्ञानके नामपर यहाँ चाहे जैसे भी चित्रहों, क्षम्य मानेजाते हैं। और प्रचार तो इसका लक्ष्य है ही। साहित्यसे प्रचार भी होता हो, यह दूसरी बात है। पर साहित्य सिर्फ़ प्रचार है, यह तो बिल्कुल ग़लत है। ह्यूगोने प्राणदण्डकी प्रथाके विरोधमें साहित्य रचा, बर्नर्डशॉने सामाजिक कुव्यवस्थाओंके मूलोच्छेदकेलिए साधनाकी, प्रेमचन्द और गोर्कीने ग़रीबोंकी वकालत की, शरच्चन्द्रने उपेक्षित नारी-जातिकेलिए निर्मम संसारकी आँखोंमें आँसू भरदिया—सब ठीक है, फिरभी साहित्य मात्र प्रचार नहीं है। उनकी रचनाओंमें साहित्यके सत्यकी उपेक्षा नहीं कीगयी है। फ्रांसकी राज्यक्रान्ति के समयकी साहित्यिक भावधारा अत्यधिक प्रचारित इसीलिए होसकी कि वर्गवादिताके सिवाय उसमें मानवताके चिरन्तन आवेग भी थे, जीवनकी गहरी अनुभूतियाँ भी थीं। वह केवल राजनैतिक प्रॉपैगैण्डा नहीं था। साहित्य राजनीतिसे और राजनीति साहित्यसे प्रभावित हुआ करती है, फिर भी दोनोंकी अपनी अलग सत्ता है। राजनीतिक प्रचारका माध्यम बनाकर साहित्यको प्रगतिशील कहनेवाले लोग साहित्यमें आत्माकी अपेक्षा मस्तिष्क को, भावकी अपेक्षा बौद्धिकताको अधिक महत्व देनेलगे हैं। पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयीने इसीलिए कहा है—"राजनैतिक प्रगतिशीलताका काम नुस्खोंसे चल सकता है, पर साहित्यिक प्रगतिशीलता जीवनकी गह-

राईमें प्रवेश किये बिना नहीं आसकती। फल यह होता है कि राजनीतिक सिद्धान्तवादी अपने नपे-तुले नुस्खे न देखकर प्रौढ़, जीवनमय साहित्यका निर्माण करनेवाले साहित्यिकोंके प्रति नाक-भौं सिकोड़कर साहित्यमें जीवन के सन्निवेशकी समस्याको गहरी ग़लतफ़हमियोंमें डुबादेते हैं।")

यों तो ऐसे साहित्यिक वादोंके चरमपर पहुँचे बिना उसके हित-अहितका निश्चित रूपसे निर्णय नहीं दिया जासकता। फलतः कई लोग इसके विरोधका विरोध करसकते हैं। किन्तु अन्य देशोंमें इस वादके चरम विकासकी जो चरम परिणति और प्रतिक्रिया हुई है, हमें उससे उदाहरण ग्रहण करना चाहिए। संघबद्ध साम्यवादियोंने प्राचीन-पन्थियोंकी साहित्य-साधनाको कोसतेहुए राजनीतिक जागृति और उत्थानकेलिए जिस साहित्य की सृष्टि की थी, आज इस छोटी-सी अवधिमें उसका युग लदगया। फ्रान्स और रूसके तत्कालीन साहित्यकी स्पष्ट प्रतिक्रिया आज हमारे सामने है। वहाँ जन-कल्याणार्थ ही उपयोगी साहित्य रचागया था, आज जनता स्वयं उससे भरउठी है और मुक्ति चाहती है। (रूसमें अब प्रोलेटेरियन साहित्य के विरुद्ध आन्दोलन भी शुरू होगये हैं। अब वे प्राचीन युगकी सांस्कृतिक धाराके बचावका प्रयत्न करतेहुए कहनेलगे हैं— "साहित्य राजनीतिक और सामाजिक क्रान्तियोंके प्रचारका माध्यम नहीं, न विश्लेषणका आधार है। साहित्यका कार्य मानव-मनकी सौन्दर्यमूलक प्यास और भावुकताकी भूखको तृप्त करना है।")

(जनसाधारणको समाजके आभिजात्यके प्रति कितनाही विद्वेष क्यों न हो, साहित्यकी आभिजात्य-भावनाके प्रति उनके हृदयमें प्रेम तथा आसक्ति है। केवल बुद्धिवादी, प्रचारात्मक और शुष्क साहित्यसे मानसिक भूख नहीं बुझसकती। हम इसकेलिए तर्क पेश करसकते हैं, प्रमाण नहीं देसकते। जिन साहित्यिक कृतियोंको युग-युगकी लोकप्रियता मिली है, वे वर्ग-विद्वेषकी ज्वालाके पुञ्ज नहीं हैं, उनमें स्वाभाविक मानवी वृत्तियोंका विकास है। होमर, तुलसीदास, दान्ते, कालिदास, चाहे जिनकी अमूल्य कृति को लीजिए, उनमें आभिजात्यकी बू मिलेगी; पर आप देखेंगे, जनताकी उनमें अधिक रुचि है। संसारमें प्रगतिवादके फल-फूल भेजनेवाले पेड़का जहाँ जन्म हुआ, उस रूसमें भी अब प्रेम और रोमांसका प्रेम बढ़रहा है। जो प्रेम, सौन्दर्य और कल्पनासे घृणा करते थे, उनकेलिए विष उगलते

थे, अब प्रेम करनेलगे हैं। सौन्दर्य और प्रेमकी भूख चिरन्तन है। नारी ही समाजका केन्द्र है, और प्रेमके बन्धनसे ही मानव सामाजिक सम्पर्कमें बँधा है। कलाको 'समभावके प्रचार द्वारा संसारको एक करनेका साधन' माननेवाले टॉल्स्टॉय जैसे कलाकारने भी 'अन्ना' जैसी नारीकी सृष्टि की।

साहित्यमें जो स्थान शोषकोंका है वही शोषितोंका। कलाकृतियोंके यथार्थ आनन्दका उपभोग भी दोनों वर्ग समान रूपसे करते हैं। गोर्कीकी कृतियाँ, जिनमें समाजके शोषित, पीड़ित और तिरस्कृत जनताका मार्मिक क्रन्दन है, अभिजात वर्गके प्रति एक तीव्र आक्रोश और क्षुब्ध विद्रोह है, अभिजात वर्गके लोग आनन्दसे पढ़ते हैं। इसी प्रकार अभिजात वर्गके गुण कीर्तनोंवाले काव्यको साधारण जनता — जो उन्हींके द्वारा शोषित और पीड़ित है—पढ़ती है और आनन्द पाती है। फलतः हम देखते हैं, साहित्यमें ऐसी कोई रेखा नहीं जो भावनाओं एवं तज्जन्य आनन्दको विभाजित करती हो। भावनाओंमें व्यक्तिगत जीवनकी समस्याएँ स्वतः लुप्त होजाती हैं। गोर्की स्वयं अपनी रचनाओंको 'प्रोलेटेरियन लिटरेचर' कहनेमें अपमान समझता था। बल्कि एकबार उसने रोम्याँ रोलाँको इस आशयकी चिट्ठी लिखी थी कि बालकोंके मानसिक विकासकेलिए यह आवश्यक है कि उन्हें बीथॅवन और माइकेल एंजेलोकी जीवनी पढ़ायी जाय। ये दोनों ही आभिजात्य भावोंके शिल्पी थे। एक संगीतज्ञ, दूसरा चित्रकार। रोलाँने दोनोंकी जीवनियाँ लिखी थीं, बल्कि बड़े परिश्रमसे उन्होंने यहभी सिद्ध किया था कि जनता आभिजात्य-भावमय रचनाओंको ज़्यादा पसन्द करती है। रूसकी जनतामें इन दिनों रोमैण्टिक कथा-कहानियों, प्रेमकी कविताओं, आभिजात्य-भावके नाटकोंमें ज़्यादा उत्साह पायाजाता है।

वास्तवमें हमारे व्यक्तित्व-बोधने हमें इतना स्वार्थपर बनादिया है कि सामाजिकता छिन्न-भिन्न होगयी है, जिससे हमारा समाज पंगु और शक्तिहीन होगया है। मानव या विश्व-बन्धुत्व ही साहित्यका लक्ष्य है। इसी क्षेत्रमें विश्वमानवका मिलनतीर्थ तैयार होसकता है। किन्तु वह तीर्थ वर्ग-विद्वेषसे नहीं, प्रेम और सौन्दर्यसे ही प्रतिष्ठित होसकता है।

होसकता है, व्यक्तित्वकी साधना समाजकेलिए हानिकर हो, पर साहित्यकेलिए उसकी उपयोगिता निर्विवाद है। मनुष्य यों व्यष्टि भी है और समष्टिका अंश भी। समाजकेलिए समष्टिवादका जैसा महत्व है, साहित्य

केलिए व्यक्तिगत चेतनाका उतना ही मोल है। व्यक्तिगत सुख-दुखकी अनुभूतिके बिना प्रेम और रोमैंसकी कल्पना सम्भव नहीं।

कवि पन्तकी रायमें प्रगतिवाद उपयोगितावादका ही दूसरा संस्करण है। उपयोगितावाद और वस्तुवादका विवाद साहित्यमें बहुत दिनोंसे है, किन्तु इस मठेको मथकर मक्खन नहीं मिलसकता। मनुष्य ज़रूरतोंके हिसाबसे इस बातका आदी होगया है कि वह उपयोगमें आनन्द और आनन्दमें उपयोग ढूँढले। इसलिए प्रगतिवादको उपयोगितावादका दूसरा रूप कहना युक्तिसंगत नहीं। प्रगतिवादका अर्थ बहुत व्यापक और उद्देश्य बहुत महत् है, किन्तु अभी उसमें उच्छृङ्खलता ही प्रधान है; इसमें हमारे भाव और विचारोंका असंयम, मन और मस्तिष्कका उन्माद ही व्यक्त होरहा है। हमारी अत्याधुनिक साहित्यिक प्रवृत्ति विदेशी नकल-भर है। बँगला साहित्य सम्मेलनकी काव्यशाखाके सभापतिकी हैसियतसे अभी-अभी श्रीसजनीकान्त दासने इसके बारेमें कहा था—"साहित्यकी यह अति-आधुनिकता एक प्रकारकी साहित्यिक महामारी है जिससे साहित्य-विटपमें मूल-फूलमें घुन लगरहा है, उसके विनाशमें और अधिक विलम्ब नहीं। इस अति-आधुनिकताका लक्षण है: विवशता और अक्षमता; एक अपवित्र मनोवृत्ति, एक उद्दाम अनाचार वंग-सरस्वतीको आभरणहीन, विवस्त्र और विकलांग करने का प्रयास कररहा है।" हिन्दीकी इस अति-आधुनिकताकी बाबत लगभग यही बात कही जासकती है। प्रगतिवादसे साहित्य या जनकल्याणकी साधना अगर सम्भव भी हो तो उसके आजके स्वरूपसे तो हर्गिज़ नहीं। डा० रामकुमार वर्माके शब्दोंमें—"हमारे नवीन लेखकोंने गतिशीलता के नामपर जो उच्छृङ्खलता पृष्ठोंपर रखदी है, वह हमारे जीवनकी नैसर्गिक गतिशीलतासे दूर जापड़ी है। किसान और मज़दूरकी परिस्थितियोंका सौ बार नाम लेकर भी हमारे साहित्यकार हमें इस क्षेत्रमें आगे नहीं बढ़ासके हैं। उनका चिन्तन-पक्ष जितना ही दुर्बल है, भाव-पक्ष उतना ही निकृष्ट।"

देशकी वर्तमान परिस्थितिकेलिए इस वादमें आशाके अंकुर हैं, किन्तु वादके वर्तमान स्वरूपमें शक्ति और उपयोगिताका अभाव है, जिससे इसपर भरोसा नहीं होसकता। एक बातकी आशा हम करसकते हैं, वातावरणमें जब विषम उद्वेलन होता है, मन-मस्तिष्कमें प्रबल आवेग होता है, तो महान् साहित्यकारोंका उदय होता है। प्रगतिवादी भाव-धाराको यदि

एक ऐसी प्रतिभा मिलजाय, जो इस क्रियाको संयमित, साकार और सार्थक करदे, तो इससे कल्याण होसकता है। होसकता है क्रान्ति-कालकी ये भ्रान्त और असंयत प्रारम्भिक धारणाएँ ठोस आधार पाकर स्वच्छ और गतिमान होउठें। धर्मकी हानि होनेपर अवतार होते हैं, देशमें क्रान्ति होती है, तो शक्तिशाली नेता जन्म लेते हैं और साहित्यके विप्लव कालमें नवीन दार्शनिक मतकी सृष्टि होती है। इसीसे क्रान्तिका नियन्त्रण होता है। साहित्यमें जब व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी समस्या उठी तो नीत्शेका दर्शन सहायक हुआ; रोमैण्टिक युगको फिक्टे, शेलिंग और हेगेलके मतका सहारा मिला; मार्क्स के साम्यवादको कैंटके दर्शनने जीवन-दान दिया प्रगतिवादकेलिए भी ऐसीही एक दार्शनिक पृष्ठभूमिकी अपेक्षा है।

जिस प्रकार मानव किसी भी जाति या वर्गका हो, मानवता उसका धर्म है, उसी प्रकार साहित्यको चाहे जिस वादके अन्तर्गत मानें, वह अपने चिरन्तन रूप और आदर्शसे मुक्त नहीं होसकता। और प्रगतिशील साहित्य को भी अपने चिराचरित कुल-धर्मका ध्यान होना ही चाहिए। इस धर्मकी तीन प्रमुख धाराएँ हो—जीवनके प्रति आस्था, समय और स्थितिके अनुसार समस्याओंका सरल समाधान करतेहुए जीवन-निर्माण तथा विषय-वस्तुका जीवन्त एवं कलात्मक रूप-विधान। इन तीन सूत्रोंके बिना साहित्य की सफलता और समृद्धि सम्भव नहीं।

हिन्दी-साहित्यकी नवीन प्रवृत्तियाँ

वर्तमान हिन्दी साहित्यमें तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ काम कररही हैं। पहली प्रवृत्ति उस दलसे सम्बन्धित है जिसे हम 'टैबूइस्ट' सम्प्रदाय कह सकते हैं। यह सम्प्रदाय भयङ्कर रूपमें प्रतिक्रियावादी और घोर रूढ़-ग्रस्त है। किसीभी नयी, सजीव, गतिशील और मौलिक धाराका प्राणपणसे विरोध करना इसका मूलगत उद्देश्य रहता है। यह दल केवल पिछले युगों की उन साहित्यिक तथा कलात्मक प्रवृत्तियोंके राग अलापता रहता है जो यातो पूर्णरूपसे मृत होचुके हों या केवल बीजरूपमें शेष रहनेके बाद नये रूपोंमें परिवर्तित होकर नया विकास प्राप्त करचुके हैं। उन बीजोंके इन नये परिवर्तित और परिवर्द्धित रूपोंको यह रूढ़िवादी सम्प्रदाय यातो समझ नहीं पाता, या समझनेपर भी उन्हें किसी भी हालतमें महत्त्व नहीं देना चाहता। इस दलका अस्तित्व आजसे नहीं,बल्कि बहुत पहलेसे है। द्विवेदी युगमें इस दलने खड़ीबोलीमें राष्ट्रीय तथा सामाजिक विषयोंपर लिखीगयी कविताओंका विरोध किया और ब्रजभाषाकी रीति-कालीन शृङ्गार-रसात्मक कविताओं या अधिक-से-अधिक उक्त कवियोंकी कविताओंके सिवा और किसीभी प्रकारकी साहित्यिक कृतिकी कोई विशेषता ही स्वीकार नहीं करनी चाही। छायावाद-युगमें भावनात्मक तथा अन्तर्वेदनात्मक कविताओंका विरोध करनेके बहानेसे इस दलने जो बावैला मचाया था उसके इतिहास से सभी पाठक परिचित होंगे। अब छायावाद-युगकी अन्तर्मुखी प्रवृत्तिने आगे बढ़कर जो एक बहिर्मुखी प्रगतिका रूप धारण करलिया है उसके विरोध और प्रतिरोधकेलिए यह दल कमर कसकर खड़ा है। पर अब ऐसा जानपड़ता है कि बहुत कसे जानेपर भी उसकी कमर अपने-आप झुकती चलीजाती है, और निकट भविष्यमें उसे किसीभी उपायसे सीधा रखना उनकेलिए असम्भव होजावेगा। कारण यह है कि परम्परासे वह जो रुख अख्तियार करता चलाआया है वह एक नकारात्मक आदर्शके ऊपर प्रतिष्ठित रहा है, और कोई भी प्रतिरोधी और नकारात्मक प्रवृत्ति विश्वके निर-

प्रगतिशील और नकारात्मक नियमके आगे अधिक समय तक ठहर नहीं सकती।

हमारे वर्तमान साहित्यकी दूसरी प्रमुख प्रवृत्तिका सम्बन्ध उस दल से है जो ऊपर उल्लिखित रूढ़िग्रस्त संप्रदायके शीशेकी उलटी दिशा—पीछेका भाग—है। यह दल प्रगतिवादी कहाता है, और वास्तवमें कुछ अंशोंमें वह सच्चे अर्थोंमें प्रगतिवादी है भी। पर साहित्यके दुर्भाग्यसे वह दिन-पर-दिन अपनेको कुछ ऐसी रूढ़ियोंमें बाँधता चलाजाता है जो साहित्य और जीवन की यथार्थ और स्वाभाविक प्रगतिके पथमें घोर अवरोध सिद्ध होरहे हैं। इस दलकी रूढ़ियाँ मार्क्सियन सिद्धान्तोंके आधारपर बनी हैं। साहित्यमें मार्क्सियन सिद्धान्तोंका शब्द-प्रति-शब्द, बल्कि अक्षर-प्रति-अक्षर प्रयोग हो, इस चेष्टामें यह दल सतत प्रयत्नशील रहता है। जो साहित्यिक प्रवृत्तियाँ (चाहे वे कैसी ही प्रगतिशील और अग्रगामी क्यों न हों) मार्क्सके भौतिक द्वन्द्ववादमें रञ्चमात्र भी मतभेद रखती हैं उन्हे पूर्णतः प्रतिक्रियावादी क़रार देनेकी नीतिका पालन ये लोग बड़ी कट्टरतासे करते है। कट्टरता (चाहे वह किसी भी नये या पुराने सिद्धान्तके सम्बन्धमें हो) गति-निरोध और सीमा-बद्धताकी परिचायक है और वह चाहे और कुछ भी हो, पर प्रगतिशील किसीभी हालतमें नहीं होसकती। गति-निरोधकी प्रवृत्ति स्पष्टही एक नकारात्मक मनोभाव है, और मुझे भय है कि हमारे वे साहित्यिक बन्धु जो मार्क्सियन प्रगतिवादके आगे और पीछे कुछभी देखनेसे इनकार करते हैं एक ऐसी प्रवृत्तिको अपनारहे हैं जो इस देशकेलिए सतहमें कुछ नयी मालूम होनेपर भी रूढ़िग्रस्त और नकारात्मक है।

आजके साहित्यकी तीसरी प्रमुख प्रवृत्तिको अपनानेवाले वे लोग हैं जो व्यक्तिके अन्तर्जीवनके द्वन्द्वों और संघर्षोंके प्रस्फुटनको साहित्य-कला में महत्त्व देते हैं। यह एक दल भी कई उपदलोंमें विभक्त है। इन उपदलों मेंसे एककी यह धारणा है कि मनुष्यके भीतरी जीवनके अन्तरतम क्षेत्रों से जो छायामयी प्रवृत्तियाँ समय-समयपर अपने आप ज्वालामुखीके मुख-छिद्रसे बाहर निकलनेवाले धुँएकी तरह नाना विचित्र रूपों और आकारों में मनके ऊपर उठती रहती हैं। उन्हें ज्यों-का-त्यों चित्रित करदेना ही श्रेष्ठ कलाकारका कर्तव्य है। दूसरे उपदलका यह विश्वास है कि अन्तरकी छाया-मयी प्रवृत्तियोंको समाजके कुछ रूढ़िगत आदर्शोंके रंगमें रँगकर उन्हें

कलात्मक रूपसे पाठकोंके आगे रखना चाहिए। तीसरे उपदलका यह मत है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके नियमसे परिचालित बाहरी जगत्का जो संघर्ष अन्तर्जगत्के अतलमें स्थित सामूहिक अज्ञान चेतनाके अपार-रहस्यमय संस्कारोंके साथ होता रहता है, उसके फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाले जो नये विचार और नये आदर्श चिर-प्रगतिशील मानव समाजके बाहरी और भीतरी जीवनके सामञ्जस्यपूर्ण सुचारु परिचालनकेलिए कल्याणकर सिद्ध होसकते हैं, अपनी कलाकारिता द्वारा उनका विशद रूपसे प्रस्फुटन करना ही प्रत्येक कलाकारका चरम लक्ष्य होना चाहिए। यह तीसरा उपदल जिस साहित्यिक प्रवृत्तिका प्रतिनिधित्व करता है, वह वास्तवमें अपने-आपमें स्वतन्त्र और विशेष रूपसे महत्त्वपूर्ण है। मेरी व्यक्तिगत सहानुभूति इसी अन्तिम (उप-) दलके साथ है।

अन्तर्प्रदेशकी छायामयी प्रवृत्तियोंको ज्यों-का-त्यों व्यक्त करदेना कला अवश्य है, पर वह कोई उच्च आदर्शात्मक सांस्कृतिक कला नहीं है जो कि प्रत्येक प्रथम कोटिके कलाकारका ध्येय होना चाहिए। जो कला बाह्य जीवन-चक्र तथा अन्तरतम मनकी प्रवृत्तियोंके संघर्षसे उत्पन्न भ्रम-जालको छिन्न करके हमें जीवनकी यथार्थताके माध्यमसे सामूहिक कल्याण-मार्गकी ओर प्रेरित करनेमें असमर्थ हो केवल वही कला उन्नत साहित्य-क्षेत्रमें वरणीय होसकती है। यथार्थ (अन्तर-) जीवनका केवल वही चित्रण सार्थक है जो असंख्य उलझनोंमें ग्रस्त हमारे अन्तर्मनकी जटिल समस्याओंको सुलझाकर विश्व-जीवनके केन्द्रसे व्यक्तिका सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करनेमें सहायक हो।

हमारे छायावादी कलाकारोंकी प्रवृत्ति द्विमुखी रही है। एक तो मानव मनकी छायात्मिका प्रवृत्तियोंके उन प्रच्छन्न रूपोंको ज्यों-का-त्यों चित्रित करदेना जो अवचेतन मनसे उठकर सचेत मनपर अपनी भ्रामरी माया फैलाती हैं; दूसरे उन छद्म-छायात्मक रूपोंपर अपनी कवि-कल्पनाका रंग चढ़ाकर उन्हें मनमाने तौरसे सचेत मनके मुक्त आकाशमें रंगीन गुब्बारों की तरह उड़ाते चलेजाना। उनके अवचेतन मनपरसे जो आदिकालीन प्रवृत्तियाँ उठीं उनके सम्बन्धमें यह जाननेकी चेष्टा उन्होंने नहीं की कि वे कहाँ से आरही हैं और उनका मूल स्वरूप क्या है। जिस रंगीन छद्मवेशसे वे प्रवृत्तियाँ उनके सचेत मनपर आकर टकरायीं उसका वर्णन रंगमयी भाषा

में करके अपनी वेदनानुभूतिकी लगाम उन्होंने ढीली करदी, और उतने ही से उन्होंने अपना कर्तव्य-पालन हुआ समझलिया। अधिक-से-अधिक उन्होंने यह किया कि अपने उन अविश्लेषित मनोभावोंमें एक विचित्र काल्पनिक और अयथार्थ आदर्शका चमकता हुआ मुलम्मा चढ़ादिया। इन सब कारणोंसे प्रारम्भिक प्रतिरोधके बाद भी छायावाद लोकप्रिय होता चलागया।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावादने अन्तःप्रकृतिकी रुद्ध प्रवृत्तियोंको विकासका मार्ग दिया और अन्तर्जीवनकी समस्याओंको पहली बार पूरे प्रवेग से हिन्दी साहित्यके क्षेत्रमें लाकर रखा। यह एक बहुत बड़ा काम उसने किया, और मैं उसे अपने युगकी प्रगतिशील धारा मानता हूँ। पर आजका युग स्वभावतः उससे कई गुना अधिक प्रगतिशील होउठा है—बाहरी और भीतरी, दोनों साहित्यिक प्रवृत्तियोंके क्षेत्रोंमें। यहाँपर मैं केवल अन्तर्जीवन सम्बन्धी प्रगतिशील धाराके विषयमें कहूँगा। इस धाराका रूप अभीतक हमारे साहित्यमें सुस्पष्ट रूपसे परिस्फुटित नहीं हुआ है, और उसका प्रकाश अभीतक व्यापक रूपसे साहित्य-जगत्में नहीं फैलने पाया है। पर इस बातसे उसके महत्व और विशेषत्वमें कोई कमी नहीं आती। इस बातके निश्चित चिह्न दिखायी देते हैं कि यह धारा धीरे-धीरे निश्चित रूपसे सारे साहित्याकाशको छालेगी—छायावाद-युगीन धारासे कई गुना अधिक तीव्रता, गहनता और व्यापकतासे। और भावी आलोचकोंको इस धाराको एक बिल्कुल ही नया नाम देनेको बाध्य होना पड़ेगा।

इस छोटे-से निबन्धमें इस धाराकी रूपरेखाको समझानेका प्रयत्न करना निश्चय ही एक निष्फल प्रयास होगा। फिरभी उसकी एक अस्पष्ट झाँकी पाठकोंके सामने रखनेकी धृष्टता मैं करूँगा। छायावाद भी अन्तर्जीवनसे सम्बन्ध रखता था, और यह वाद भी अन्तर्जीवनसे सम्बन्ध रखता है। तब इन दोनोंमें अन्तर कहाँपर है? इन दोनों धाराओंमें सबसे बड़ा और मूलगत अन्तर यह है: छायावादी युगके कलाकार, जैसाकि मैं पहले कहचुका हूँ, अन्तर्मनसे उठनेवाली भावनाओंके मूलगत रहस्यको बिना समझे ही, उसकी रास ढीली करके, उनपर केवल कवि-कल्पनाका रङ्ग और काव्यात्मक भाषाकी पॉलिश चढ़ाकर, उन्हें 'आदर्श' का रूप देकर मनमाने ढंगमें व्यक्त करतेरहे हैं। पर अन्तर्जीवन-सम्बन्धी नयी धाराका वास्तविक अर्थमें प्रगतिशील कलाकार यद्यपि व्यक्तिगत रूपसे उन्हीं भावनाओंके वेदन

(सुखमय अथवा दुःखमय) का अनुभव करता है जिनसे छायावाद-कालीन कलाकार वर्ग प्रभावित रहे हैं, तथापि न तो वह उन भावनाओंकी उत्पत्ति के रहस्यसे एकदम अपरिचित रहता है, न उस वेदनको महान्, स्वर्गिक, अलौकिक और आदर्शमूलक मानता है। वह जानता है कि उसके मनके गहनतम प्रदेशसे उठकर जो भाववेदनाएँ उसके सचेत मनपर छारही हैं, उनकी रङ्गीनी भ्रमजालसे पूर्ण है और उसके सम्बन्धमें उसे सजग, सतर्क और जागरूक रहना होगा। वह यह भी जानता और मानता है कि भ्रम-जालकी अपनी एक निजी विशेषता, एक निजी सौन्दर्य है। पर साथही वह यह भी जानता है कि वह सौन्दर्य केवल सौन्दर्य है —मनकी आँखों को भ्रममें डालनेवाली इन्द्रजाली माया—

ज्यों जलद-यानमें विचर-विचर
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल।—

उस इन्द्रजाली मायापर व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवनके लिए निर्धारित स्वकल्पित ख़याली 'आदर्शों' की कारीगरी भलेही कभी-कभी कीगयी हो और हवाई जीवन-दर्शनका एक 'युटोपिया' भलेही खड़ा करनेकी चेष्टा कीगयी हो, पर वह मानवके अवचेतन मनमें संचित जीवन के मूलगत (क्रूड) किन्तु यथार्थ तत्त्वोंसे उत्पन्न होनेवाली समस्याओंका समाधान न तो उस इन्द्रजाली सौन्दर्य-तत्त्वसे होता है न उस यथार्थके आधारसे रहित जीवन-दर्शनसे। आजके युगका अन्तरीण-प्रगतिवादी कला-कार इस बातपर विश्वास करता है कि जीवनको यदि वास्तविक अर्थोंमें आगे बढ़ाना है तो सामूहिक मानवके सामूहिक अवचेतन मनके भीतर युग-युगो से पुञ्जीभूत पशु-प्रवृत्तियोंको स्वीकार करना होगा। यह मानना होगा कि ये ही पशु-प्रवृत्तियाँ छद्म रूपोंसे सभ्य मानवके समस्त व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक क्रिया-चक्रोंको अज्ञातमें सञ्चालित करती हैं। और अपने सचेत मनपर उदित होनेवाली प्रवृत्तियोंके विश्लेषणसे यह रहस्य मालूम करना होगा कि अज्ञात चेतनाकी किन मूल पशु-प्रवृत्तियोंके वे प्रच्छन्न रूप हैं, और बाह्य-जीवन-चक्रसे उन मूल प्रवृत्तियोका सामञ्जस्य या संगति किन-किन रूपोंमें हो, ताकि अन्तर्जीवन और बाह्य-जीवनके पार-स्परिक संघर्षके कारण जो रोग शोक, दुःख-दारिद्रय, व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक द्वन्द्व, अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध तथा वर्ग-संघर्षका जो चक्र प्राचीन-

तम कालसे लेकर आजतक चला आता है उस विश्वव्यापी समस्याके आपेक्षिक समाधानके दीर्घ-पथकी ओर मानवता एक लघु किन्तु निश्चित क़दम आगे बढ़ासके। आजका कलाकार मानवके अवचेतन मनमें निश्चित रूपसे स्थित पशु-कालीन 'नरक' की घोर यथार्थताकी नींवपर आपेक्षिक स्वर्गकी इमारत खड़ी करना चाहता है। उसका ध्रुव विश्वास है कि मानव-जीवनकेलिए यदि स्वर्गका आभास किसीभी रूपमें, किसीभी सीमातक स्थापित किया जासकता है तो वह केवल अन्तरतम जगत्की आदिकालीन (पशु-) प्रवृत्तियोंके ही तत्त्वोंके रासायनिक उदात्तीकरण द्वारा। उन मूलगत प्रवृत्तियोंसे आप यदि भागना चाहें तो भाग नहीं सकते, उनसे किसी भी हालतमें छुटकारा पा नहीं सकते। केवल दो रास्ते आपकेलिए हैं—यातो आप उनसे भागनेकी वृथा चेष्टा करके विशुद्ध शून्य (छाया)वाद को अपनाइए और हवाई आदर्शके किले खड़े कीजिए या उन्हें पूर्णतया, यथा-रूप स्वीकार करके उन्हींके 'गन्दे' बीजोंमें एक सच्चे अर्थोंमें उन्नत और सामूहिक रूपसे कल्याणकारी उदात्त जगत्की स्थापनाके प्रयत्नमें हाथ बटाइए। आजका अन्तर्प्रगतिवादी कलाकार इसी दूसरे मार्गका पथिक बनना चाहता है।

आधुनिक हिन्दी-कविता और संस्कृति

साहित्य संस्कृतिकी पुञ्जीभूत निधि है। साहित्यका अध्ययन करनेसे उसके राष्ट्रकी सभ्यता, संस्कृति और सुरुचिके क्रमागत विकासका अध्ययन होजाता है और काव्य-साहित्यके अध्ययनसे तो औरभी यथार्थ. क्योंकि काव्यमें हमारे संस्कृत और सुरुचिपूर्ण हृदयोंकी भावना निखरकर आती है। कहानी-उपन्यासमें यह बात उतनी नहीं है। कविता गेय है, इसलिए कविता लोकवाणीके अधिक निकट जाती है और लोकवाणीका स्पन्दन बननेकी अधिक क्षमता रखती है।

किसी भी भाषाकी कवितापर इससे बढ़कर कोई दूसरा लांछन नहीं कि वह उसके देशकी मूल-संस्कृतिसे बहुत दूर जारही है। यह ठीक है कि संस्कृतिकी रूपरेखा एकदम निर्धारित और अङ्कित नहीं कीजासकती, क्योंकि संस्कृति एक लचीली (फ़्लेक्सिबिल) वस्तु है, जिसकी व्याख्या बहुत तोड़ी-मरोड़ी जासकती है और फिर एक संस्कृतिका दूसरी संस्कृतिपर प्रभाव पड़ता है, जो कई अंशोमें स्वास्थ्यकर भी होता है, परन्तु इससे देश विशेष की अपनी संस्कृतिका मूल्य या महत्त्व कम नहीं होजाता। जो संस्कृति हमारे पञ्च-प्राणों द्वारा हमारे रक्तमें घुल-मिलगयी है, उसका कवितामें प्रतिनिधित्व होना अनिवार्य है।

आजकलकी अधिकांश हिन्दी-कविताके प्रवाहको देखकर हमारी संस्कृति सिहर उठती है। "आजकलकी कविता जैसे शून्यमें उद्भूत हुई है। जो कवि इस देशको पुरानी परम्परासे अलग होगया है, वह विदेशी स्रोतोंसे स्फूर्ति लेता देख पड़ता है। × × × जिस भारतमें मांस खाना कुछ बहुत अच्छी बात नहीं समझी जाती, जो भारत अपने पूर्वजोंके पवित्र सोमरसका पान छोड़चुका था और सुरापानको निन्द्य मानता था, उसके सामने उन्होंने कबाब और सीख, शराब (हाला) और साक़ीका राग अलापा। यह रचना चाहे कितनी ही श्रुति-मधुर हो, पर हमारे समाजकी

आत्माके अनुकूल न थी। अतः मुट्ठीभर लोगों तक ही रहगयी, लोकप्रियता न प्राप्त करसकी। मैं चाहता हूँ कि हमारे उदीयमान कवि इस बातको न भूलें।" † आजके हिन्दी-कवियोंके आगे यह गम्भीर प्रश्न प्रस्तुत कियागया है।

एक विदेशी भावधाराको यहाँ लानेका श्रेय (या अपराध !) मैं समझता हूँ हिन्दी - साहित्य ही को है। यह कोई तर्क नहीं है कि पाठकोंको यह भावधारा बहुत प्रिय हुई है और ऐसी कविताएँ बहुत सुननेमें आरही हैं। जहाँ तक जनरुचिका प्रश्न है, इनको पसन्द करनेके पीछे कारण हैं—ठीक वे ही जिनसे जनरुचि कामोत्तेजक गीतों, दृश्यों (सिनेमा आदि में) तथा प्रसंगोंमें लुभाजाती है। वस्तुतः ऐसी कविताओंमें जो आकर्षण है वह शराब - साक़ीके बलपर नहीं बल्कि इसलिए कि इस आवरणमें एक तो कवि अनर्गल होकर अपनी वासनाओंको उँड़ेल सकता है, दूसरे इस-लिए कि इसके उपकरण पाठकों और श्रोताओंकेलिए भी एक ऐसा वाता-वरण रचदेते हैं जो औसत दर्जेकी मानसिक वृत्तियोंके छिछले, अनु-दात्त, ऊपर-ऊपर तैरहे तत्त्वोंको उत्तेजन देता है। रूपपर रीझना, दिल को गँवा बैठना, अंग प्रत्यंगोंके वर्णन और दर्शनमें रसकी प्राप्ति करना आदि इन्हीं मनोभावोंके परिचायक हैं। जो भावनाएँ हल्की होती हैं वे ऊपर सतहपर ही तैरा करती हैं, कविको तो उन्हें बचाकर गहरे तलेमें पैठ कर मोती लाना है।

जीवन-रस, अमृतरस आदि हमारी संस्कृतिमें प्रतिष्ठित होतेहुए भी हम 'हाला' के प्रवाहमें बहजाँय, यह कवि - धर्म नहीं होसकता। पतनका पथ ढालू और रपटीला होता है और मानवीय प्रवृत्तिके पाँव गहरे जमे नहीं होते। कविको उसे पाँव देना है; इस प्रवृत्तिको उत्तेजन देना नहीं, रोकना है, उसका उदात्तीकरण : मङ्गलीकरण (सब्लिमेशन) करना है; उसमें बहजाना और दूसरोंको भी बहा लेजाना पौरुष नहीं है। कोई कहदे कि जीवनकी निराशा और वेदनामयी परिस्थितिकी प्रतिक्रियाके रूपमें कवि-हृदय तो हालाकी मस्तीमें अपनी राहत खोजता है। परन्तु जीवनका अमृत अधिक श्रेयकी ओर लेजा सकता है। पीड़ित व्यक्तिको निराशाकी शराबका डोज़ देनेसे पौरुषका अमृत पिलाना कहीं अधिक चतुर चिकित्सकका कार्य है। लेकिन हम इस प्रश्नको छोड़ें क्योंकि ये चीज़ें आप-ही-आप ज़मानेकेलिए

---

† अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलनके सभापति-पदसे श्रीसम्पूर्णानन्द

'अतीतका खुमार' बनती जारही हैं। जो अनिष्ट चीज़ स्वयं ही मिटरही है उसको हर्षोत्फुल्ल आँखोंसे बिदाई दें और नूतन युगका प्राणवायु अपनी श्वास-नलिकाओंमें संचरित होता अनुभव करें। प्रकृति और परिस्थितिके निर्णायक हाथका यह निर्णय है, हम नतमस्तक हों।

यह युग संक्रमणका, संक्रान्तिका, परिवर्तनका, प्रलयका, सर्वाङ्गीण पुनर्जागरणका, नवनिर्माणका युग है। इस युगारम्भके साथही हमारी शिराओंमें भी एक नवीन लहर-सी आयी है और हमारी मानसिक वृत्तियों और जीवनकी प्रवृत्तियोंमें विचार - प्रलय आया है। नूतनकी ओर बढ़नेकी इस अदम्य प्रेरणाने हमारी अबतककी जड़ताको छिन्न-विच्छिन्न करदिया है; हमारे कण्ठ अतीतके गौरवमय स्वरसे मुखरित होउठे हैं और आँखें भावी के उज्ज्वल प्रकाशसे आलोकित। हमारे जीवनमें पीढ़ियोंसे गहरी घुली-मिली निराशा, पीड़ा, व्यथा, वेदना अब आशा, उत्साह, ओज और उल्लासके आलोकमें धूमिल होचली है और उनसे अठखेलियाँ करते रहना कविताको अब नहीं सुहाता। युगको वह नवीन आलोक और नवीन आभा देना चाहती है।

क्रान्ति हम चाहते हैं और वह क्रियान्वित हो भी रही है, पर वस्तुतः उस क्रान्तिका श्रीगणेश तो मानसिक क्रान्तिके उपक्रमसे ही हुआ है। कविता यदि व्यावहारिक जगत्में क्रान्तिका आवाहन नहीं करसकती तो कम-से-कम वह क्रान्तिके अनुकूल वातावरणकी रचना तो कर ही सकती है—हमारे विचारोंको, क्रियाको एक दिशा तो दे ही सकती है, युगकी समस्याओंकी घुली हुई गाँठोंको खोलनेकेलिए उदीयमती पीढ़ीको प्रोत्साहित तो कर ही सकती है; जिस जीवनमेंसे कविता खिली है उसकी कठोरताओंको कोमल करनेकी प्रेरणा तो दे ही सकती है।

विपक्षमें कहाजाता है कि कवि तो कल्पना - जगत्का प्राणी है, उसे भौतिक वास्तविकतासे क्या सरोकार ? हाँ, कवि अवश्य कल्पना विहंगनीके साथ भावोंके 'अनन्त' में उड़नेवाला मुक्तपंख विहग है, परन्तु उसका नीड़ तो इसी धरतीपर है और उसे बहिर्जगत्को छोड़कर अपनी कल्पनाके साथ अपने नीड़में आना है। जब अपने पार्थिव नीड़में उसकी कल्पना उन्मुक्त नहीं हुई होती है तो यहाँकी वास्तविकता उसे ऐसी जकड़लेती है कि उसके मन पर जो कुप्रभाव पड़ता है, उसमें जो उत्पीड़न और उससे जो विद्रोह घनीभूत

होता है, वह कवि हृदयसे वाणी द्वारा फूटपड़ना चाहता है, या फिर अपनी परिणति या लय चाहता है। विश्ववेदनामें व्यथित कविकी रहस्यवादी या आध्यात्मिक प्रेम गर्भित भावना ऐसीही दुर्भर स्थितिसे ऊबकर क्षण-दो क्षणको अवर्णनीय सन्तोषमें आत्मसात् होजानेकी छटपटाहटका सीधा परिणाम है। दुरूह न होनेकेलिए मुझे कहना चाहिए कि हम वास्तविकताकी ओरसे आँख मूँदकर उससे मुक्ति पानेकी खोजमें ही अध्यात्मवादकी ओर बढ़े हैं; पर कवि क्योंकि एक मानव प्राणी है, इसलिए ऐसी अवस्था चिरस्थायी नहीं होसकती—बल्कि दूसरी स्थिति ही अधिक चिरस्थायी है, क्योंकि कम या अधिक अंशोंमें पार्थिव वास्तविकताकी प्रतिक्रिया निरन्तर उसपर होती रहती है, इसलिए वह उससे कहाँतक बच सकता है? [पर इससे जब वह अपने दिल के दर्दको राहतदेनेका मार्ग खोजना है तो वह कविता मानव आत्माकी वेदना को व्यक्त करनेमें अवश्य समर्थ होसकती है] इसलिए उसकी कल्पनाओं का प्रासाद केवल निस्सीम गगनमें आध्यात्मिक धरातलपर ही खड़ा न होकर 'मृत्तिकाकी धरणी' पर ही खड़ाहोता है— भलेही वह उसकी ऊपरी गगन-चुम्बी मंज़िलोंमें ही विहार करतारहे— और इसीको हम युगवाणीका स्पन्दन कहते हैं।

जहाँतक इस विश्लेषणपर हम निर्भर हैं वहाँतक तो हमें यह मानना होगा कि युग-युगकी कविताका आधार युगकी कविता ही है। युगकी कविता युग-युगकी कविताकी विरोधिनी नहीं, बल्कि भित्तीरूप ही होसकती है। मनुष्य जहाँ संसारके युग-निर्माणकारी विराट आयोजनोंमें अपने जीवनका अमृत बहाता है वहाँ वह घरकी उलझनोंको भी तो सुलझाता है।

मानव-जीवनके चिरन्तन तत्त्वोंपर अपनी लेखनी और अपनी कल्पना को गतिशील करके समसामयिक समस्याओंपर आना अधोगति है, आप कहदें; परन्तु हमारा युग तो हमारी कल्पनाओंमें निर्माण नहीं होरहा है; वह तो गढ़ा जारहा है धरतीपर बसनेवाले भौतिक बाधाओंमें पड़ेहुए प्राणीद्वारा। उनको कविताकी हुङ्कारसे दिशा-निर्देश मिले और इस पार्थिव जगत्की उलझीहुई समस्याओंका हल कवितामें व्यक्त हो तो उसे हम भाव-जगत्की क्रान्ति कहेंगे। जैनेन्द्रजीने शायद इसी बातको लक्ष्य करके कुछ महीनों पहले हुए राजस्थान प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (उदयपुर) में कहा था कि हम कविता

में क्रान्ति न लायें।* क्रान्तिसे यदि उनका आशय व्यापक परिवर्तन ही से था तो यह मानना होगा कि वह तो कवितामें आयी है, आरही है और आयेगी। हमारे काव्यका समस्त इतिहास इसी मानसिक शक्तिका आलेखन है। भक्तिमयी कवितासे शृंगारिक और छायावादी, रहस्यवादी तथा अध्यात्मवादी कविताओं तक यह क्रान्ति बरबस आयी है। यह कवितागत क्रान्ति युग और उसके साथ बँधी हुई परिस्थितियोंके द्वारा लायी हुई मानसिक जगत्‌की क्रान्तिकी प्रतिच्छाया ही तो है और जब क्रान्ति हमारे आचार, व्यवहार, आदर्श, वेश-भूषा, वाङ्मय, भाषा सबमें आरही है और हमारी विचारधाराओंमें भी तो वही कवितामें—वाणीमें— न उतर आये यह किसी भी दशामें अस्वाभाविक नहीं है। वस्तु-जगत्‌के कठोर सत्योंसे कोई आँख मूँदे नहीं रहसकता और कविता इससे अछूती नहीं रहसकती। श्री सम्पूर्णानन्दजीके शब्दोंमें पुनः कहूँ तो— उसने समयके साथ अपने रूपमें भी परिवर्तन किया है। उसने अस्ताचलपर क्षणभरकेलिए टिकेहुए भारतके स्वातन्त्र-सूर्यको अपने सामने डूबते देखा है, आर्य और अनार्य संस्कृतिका संघर्ष उसकी आँखोंके सामने हुआ, उसे उन दर्बारोंमें आश्रय मिला था जहाँ भोग-विलासमें डूबकर अपनी खोयीहुई आत्माको स्मृति भुलायी जाती थी और आज वह भारतका स्वराज्य-आन्दोलन तथा पृथ्वीपर नवयुगका प्रसव अपनी आँखों देखरही हैं। कविके कानोंमें जगतीके शोषितों और दलितोंका क्रन्दन है, उसकी आँखोंके सामने एक ओर अपमानित भारत का क्लान्त कलेवर और कोटि कोटि नंगों-भूखोंके कंकाल और दूसरी ओर कारखानोंकी गगनचुम्बी चिमनियाँ और श्रीमानोंके नन्दन-कानन-प्रतिस्पर्धी विलासगृह हैं। उसका हृदय इन बातोंसे विताड़ित होता है, विचलित होता है। सच्चा कवि इस पृथिवीको छोड़कर भाग नहीं जाता। वह रोता है, पर आँसुओंकी झड़ीके पीछे उसे आशाकी किरणें भी देख पड़ती हैं। उस की आँखोंके सामने भविष्यका चित्र भी नाचउठता है। वह योगी न सही, पर उसको भी सत्यकी अतीन्द्रिय झलक देखपड़ती है। वह इसीलिए कविता करसकता है कि उसे सत्यका साक्षात्कार हुआ है और सत्य ही सुन्दरम् है। जो सच्चा कवि है, कलाको जीवनसे पृथक् करनेकी बात नहीं

* भाषण मौखिक होनेसे उनके शब्दोंको समझने या व्यक्त करनेमें भूल भी होसकती है, ऐसी दशामें जैनेन्द्रजीसे क्षमा चाहूँगा।

करता। सत्य केवल सुन्दर नहीं है, वह शिव भी है; अतः सत्कविकी वाणीमें तृषित, उत्पीड़ित मानव-जातिको सन्देश और उपदेश मिलना चाहिए। तो कवि पहले युगके प्रति उत्तरदाता है, फिर युग-युगके प्रति। जो कवि अपने परिजनोंके प्रति अनुराग नहीं रख सकता उसका विश्वबन्धुत्व या मानवता का निर्वाह करना निरा दम्भ है।

जहाँ कवि भौतिक जगत्‌की गतिविधि और वास्तविक जीवनकी कठोर सचाइयोंसे विमुख होकर कवितामें दूसरा मार्ग ग्रहण करता है वहाँ उसे दिग्भ्रान्त होनेका भी भय है और आजके अनेक हिन्दी-कवि जो रूप-सौन्दर्यको 'हाला', अङ्ग-प्रत्यङ्गको 'प्याला', रूपसी रमणीको 'साक़ी' और स्वयंको 'पीनेवाले' के रूपक-संकेतों द्वारा अभिव्यक्त करते हैं, उसमें अपने आपको नहीं तो कम-से कम दूसरोंको—पाठकोंको, आलोचकोंको—भ्रम और धोखेमें रख सकते हैं।

हमारी कविता जब वास्तविकताकी ओरसे आँख मूँदकर उससे मुक्ति पानेकी खोजमें निकली तो उसने प्रेम-गीतोंका रूप धारण किया। पर कवि उस स्थितिमें जागरूक न रहसका और उसकी मानवोचित दुर्बलताओंने उस उड़ानमें भी पीछा न छोड़ा और वह आध्यात्मिकतामें भी शरीरी धारणा कर ही बैठा, उसके प्रेमगीतोंमें मानव-हृदयोंकी वासना-विलास और शृङ्गारिकता बोलनेलगी और उसने दम्भ किया कि वह जोकुछ कहता है सब अशरीरी, असीम, अरूपके प्रति है। यह तर्क कुछ ऐसा है जो सारी 'नाजायज़ हरकतों' पर परदा डालदेता है। परन्तु जिन आलोचकों और समीक्षकोंकी निगाहें तीखी हैं वे उनके मूल उद्‌गमको खोजलेते हैं और फिर कवियोंका अन्तर्मन जैसे अपने समस्त आवरण दूर करके उसकी लेखनीके आगे आजाता है। यह दशा दयनीय है।

प्रेमके गीत गातेहुए जब कवि 'प्रेम' की महत्ता और उदात्तताके पाँवोंमें 'वासना' की जञ्जीरें डालदेता है तो वह कविताको भी कम कलंकित नहीं करता। प्रेमको मैं काव्यकी आत्मा मानता हूँ—प्रेम ही कविता का प्राणवायु है यह भी कहसकते हैं; परन्तु प्राणवायुको दुर्गन्ध जब स्पर्श कर लेती है तो वह विषसे भी घातक बनजाती है।

प्रेम और शृङ्गार-रस साहित्यमें पर्य्याय - जैसे होगये हैं, इसलिए शृङ्गार-रसकी विवेचना भी यहाँ करनी पड़ेगी। शृङ्गार-रसकी सच्ची कसौटी

यह होनी चाहिए कि उससे जो आनन्द प्राप्त हो वह उदात्त वृत्तियोंको ही उत्तेजन दे—असत्से सत्की ओर ही लेजाय। सत्-असत्, उदात्त-अनुदात्तका निर्णय आप स्वयं करसकते हैं।

आलिङ्गन, चुम्बन आदि प्रेमके अनुभाव हैं अवश्य, परन्तु यदि कवि प्रेम और विशेषरूपसे प्रणयका आलेखन करनेमें इन्हें जानबूझकर ही न लाना चाहे तो बात दूसरी है, अन्यथा इनका आना ही किसी अनुदात्त वृत्तिका परिचायक नहीं। वास्तविक वस्तु उसकी मूलभावना है। प्रेय और प्रेयसीके बीच व्यक्त होनेवाले इन अनुभावोंके आदान-प्रदानसे ही यहाँ तात्पर्य है, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। रविबाबू जब लिखते हैं—

तोड़ो, तोड़ो प्राण, तुम्हारे परम मधुरताके बन्धन
अब न पिलाओ मुझे चुम्बनोंका आसव हे जीवनधन

या

आगमन उनका हुआ इस यामिनी
वे पधारे पास पर जागी न मैं अनुरागिनी
क्यों न उनकी कण्ठ-मालाकी बनी परिरम्भिणी

तो वह प्रेमकी केवल मङ्गल अभिव्यक्ति ही करते हैं। परन्तु आधुनिक हिन्दी कविताओंमें जो आयेदिन संग्रहों और मासिकपत्रोंमें देखनेको मिलाकरती हैं, ऐसी कई पंक्तियाँ होती हैं जो पूर्वापर-सम्बन्धको देखतेहुए असंस्कृत रुचिकी परिचायिका अतः असमीचीन और अनावश्यक हैं।

प्रेमका जो वासनाजनित रूप है, वही प्रेमको उच्चासनसे नीचे गिरा देनेवाला है। एक दूसरी कसौटी यह है कि हमारा वह प्रेम प्रेम नहीं है जो 'काम' में परिणति चाहता है। जहाँ शारीरिक आनन्द (या रस ?) की प्राप्तिकी कामना है वहीं काम है। जहाँ आत्मिक या आध्यात्मिक आनन्द की प्रेरणा है वहाँ प्रेम है। इसी कसौटीने कई हिन्दी-कविताओंकी मूलधारा को कामुकतापूर्ण ठहरादिया है।

प्रेमको बड़े व्यापक रूपमें देखना चाहिए। जो चीज़ सर्वव्यापी होती है वह सूक्ष्मतम भी होसकती है, उसे संकुचित भी करदिया जाता है। ईश्वरकी विराट् सत्ताको मूर्त्तिमें हम इसीलिए प्रतिष्ठित करके अधिक

काल्पनिक सुखका अनुभव करते हैं। हमने प्रेमकी भी ऐसी ही संकुचित दृष्टि लेली है। नारी-मात्रको ही प्रेमका आधार मानलेना इसी वृत्तिका प्रमाण है। नारीको केवल प्रेम (प्रणय) का आलम्बन-मात्र मानलेना भी हमारी संकुचित दृष्टि ही है। आजकी अधिकांश कविताओंमें जो नारीको साहित्यिक शृङ्गारका आलम्बन मानकर अभिव्यक्ति कीजाती है उसका कारण यह है कि जगत्का अधिकांश कार्य-कलाप नारीके चारोंओर घूमता है। मैं यह नहीं मानता कि पुरुष और नारीका प्रेम कोई पवित्र या मङ्गल वस्तु नहीं है, परन्तु यह कि आजकल जो भावना उन कविताओंमें छिपी बोलती दिखायी देती है वही अमङ्गल और अपवित्र है—अतः अमङ्गल अपवित्र, अकल्याणकर प्रभाव पाठकपर उत्पन्न करती है—कहीं-कहीं यह वृत्ति मानसिक व्यभिचार तक पहुँचजाती है। कभी-कभी तो, और प्रायः अधिकांशमें, यह होता है कि शरीरसे विलास और वासनाओंमें लुप्त न हो पाकर हम मानसिक विलास-लीलाओंमें फँसना चाहते हैं। आधुनिक प्रेमगीतोंमें प्रायः यही विलासलिप्सा और वासना मिलती है। यह मानसिक विलास जो हमारा पल्ला पकड़ेहुए है, एक प्रकारका व्यामोहजनित उन्माद है। यह केवल मृगमरीचिका है जो भ्रामक है, सत्य नहीं है और इसलिए अकल्याणकर है।

वैसे नारी करुणा, कोमलता, मातृत्व, ममत्व आदि प्रेमकी अनेक विभूतियोंकी पुंजीभूत प्रतिमा है; परन्तु प्रेमकी जो हीनतम, स्थूलतम अभिव्यक्ति भोग या काम है, उसने इन प्रेमगीतोंमें इतनी प्रधानता या आग्रह ग्रहण करलिया है कि वह रचना जो प्रेमके हार्दके स्वर्गिक स्पर्शसे अजर-अमर वृत्ति होनी चाहिए थी वह निरी मानवीय दुर्बलताओंका प्रदर्शनमात्र बनकर रहगयी है। जो कविता हमारी मनोभावना, मनःस्थिति और संस्कृति को ऊँचा उठानेवाली होनी चाहिए थी वह हमें अपने न केवल शील बल्कि पुरुषत्वके आदर्शसे गिरानेवाली बनती जारही है।

नारीके सौन्दर्यपर मुग्ध होना कवि-हृदयकेलिए कोई असाधारण बात नहीं है, क्योंकि सौन्दर्य मुग्ध होने ही केलिए है; परन्तु उसका प्रवाह कामातुरताकी ओर तो नहीं होना चाहिए। यदि अनियन्त्रित उद्गार कविताके रूपमें कविकी प्रतिभामयी लेखनीसे प्रसूत होनेलगें तो वह उसका सौन्दर्य-प्रियता—जो स्वयम् अपनेमें कोई खराब वस्तु नहीं है बल्कि कलाप्रियता

या संस्कृत रुचिकी ही परिचायिका है—सौन्दर्य-प्रियता नहीं रहजाती। सौन्दर्य का जो चित्रण आपके अन्तरमें कर्त्ताके प्रति प्रेम, निर्मल प्रेम, श्रद्धा या अमृत आनन्द जाग्रत करे वही सौन्दर्यका सत्-चित्रण है, इसके विपरीत सौन्दर्यका जो चित्रण हमें सौन्दर्यके आधारके प्रति कामातुर करे और उस सौन्दर्यका अनैतिक उपभोग करना चाहनेकी प्रेरणा जगादे तो वह चित्रण अश्लील है।

योंतो श्लीलता-अश्लीलता व्यक्तिगत संस्कृति और सुरुचिके अनुसार निर्धारित होती है, इसलिए यह व्याख्या सम्भव है आपको ग्राह्य न हो, परन्तु सामान्य रूपसे किसीभी प्रकारकी अपुरुषोचित, अमंगल या असंस्कृत भावनाको स्फूर्ति देनेवाली वस्तु अश्लील कही जायगी। जिन कविताओंमें ऐसा आग्रह हो, जो इसी हीनवृत्तिको स्फूर्त्ति दें, वे अश्लील हैं, सत्यसे विमुख हैं और कविता-कलाके खरा उतरनेमें बाधक हैं। इस प्रकारके अश्लील चित्रण को कलाके चिरन्तन सत्यों, मानव जीवनकी व्याख्या या सृष्टिके अमर-तत्त्वों के लुभावने शब्द जालमें लपेट दियाजाता है। यह मोह दूर होना चाहिए और जबतक आलोचक या विचारककी यह दृष्टि कविके आगे रहेगी नहीं तबतक कविताकी धारामें परिष्कार या दिशा-परिवर्तन होना कठिन है।

सभ्य-संस्कृत समाजमें प्रेमको व्यक्त करनेवाली शारीरिक क्रियाओं का नग्न और खुला प्रदर्शन कोई कलापूर्ण बात नहीं समझीजाती और कविता तो वाङ्मयका अत्यन्त कलात्मक निखरा हुआ रूप है। वह वह सोना है जो स्वर्णकारके कलात्मक हाथ लगनेसे आभरण बनगया है। कविता हमारे साहित्यकी वह देवी है, जिसके मन्दिरमें कोई अशुचि वस्तु नहीं आनी चाहिए।प्रेम आरतीका वह दीपक है जिसके विषयमें विश्वकविने कहा है :

वामना मोर जारेइ परश
करे से,
आलोटिं तार निबिये फेले
निमेषे
ओरे सेइ अशुचि, दुई हाते तार
जा एनेछे चाइने से आर,

तोमार प्रेमे बाजबे ना जा से आर आमि सइबो ना

प्रेममें जो शारीरिक आसक्ति या वैषयिकता है वह व्यवहार - जगत् में जितनी पतनकारी और विघातिनी होती है उतनी ही कविता (या साहित्य) में भी, बल्कि उससे भी अधिक है, क्योंकि साहित्य तो एक ऐसा साँचा है जिसमें हमारे मनोभाव ढलकर जनताके बनजाते हैं। जबतक कविता कवि के कण्ठमें है तबतक वह शिव-अशिव, सुन्दर-असुन्दर जैसी है है, पर जब वह जनताके सामने आजाती है तब उसे शिव - सुन्दरकी कसौटीपर खरा उतरना ही चाहिए। अपेक्षा है कि हम कवितामें अपनी मेधा और प्रतिभा का यह जानबूझकर व्यभिचार न होनेदें, अपने प्रेमके चित्रणमें भी सर्वथा, सर्वदा, सर्वत्र उदात्त और मङ्गल भावनाओंकी ही सृष्टि करना सीखें।

एकांकी नाटक

हिन्दीके आजके एकांकी नाटक संस्कृतमें मिलनेवाले विविध नाटक भेदों † की परम्परामें नहीं आते। ये एकांकी हिन्दीकी उस प्रणालीमें भी नहीं जो भारतेन्दु-कालमें मिलती है। भारतेन्दु-कालमें नाटक बहुत लिखेगये, उनमें अनेकों छोटे-छोटे नाटक ‡ भी थे जिनमें अङ्कोंका विभाजन न था, केवल दृश्यभर थे। ऐसे नाटकोंको रूपक कहदिया गया है। उदाहरणकेलिए पं० प्रतापनारायण मिश्रका 'कलिकौतुक रूपक'। ऐसे रूपक इस कालमें अनेकों लिखेगये, पर वे आजके एकांकियोंसे सम्बधित नहीं माने जासकते। आज के एकांकी नितान्त भिन्न धरातलपर एक भिन्न प्रकारकी कलाको उपस्थित करते हैं। इस युगसे पूर्वके हिन्दी-एकांकियोंमें कलाका भाव नहीं था। एक नाटकीय शैलीके विलक्षण अनुकरणमें किसी सामयिक अवस्थाका दृश्य-भर अंकित करदिया, और बस। वह काल ही ऐसा था जब शास्त्रकी बात तो किसी हदतक होसकती थी पर कलाकी नहीं। और तब साहित्यमें वह सब सम्मिलित था जो लिखदिया गया हो; यानी साहित्यने भी कोई विशेष कक्षता (स्टैण्डर्ड) उपलब्ध नहीं करपायी थी। उस कालमें एकांकी एकांकी समझ-कर नहीं लिखेगये—उनका कोई स्वरूप खड़ा नहीं हुआ था। अतः आजके ये एकांकी उनकी विकास-श्रेणीमें नहीं आते।

आधुनिक एकांकियोंका निर्माण जहाँ पाश्चात्य-साहित्यके अनुकरण पर हुआ वहाँ युग-धर्मने भी उनकी आवश्यकता सिद्धकी। व्यस्त-जीवन, अर्थका अभाव, और बड़े नाटकके अभिनयकी पात्रता प्राप्त करनेकेलिए लम्बे समयकी अड़चन—ये सभी बातें ऐसेच्योर नवोत्साही नाटक खिला-

---

† भाण, व्यायोग, अङ्क, वीथी, गोष्ठी, उल्लाप्य, उत्सृष्टांक, रासक, श्रीगदित, विलासिका आदि कई रूपक और उपरूपकके भेद एकांक होते थे।

‡ भारतेन्दु, श्रीनिवासदास, प्रेमघन, राधाचरणगोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र जैसे सभी लेखकोंने एक-न-एक एकांकी लिखा है।

ड़ियोंके सामने कठिन बाधाओंकी भाँति थीं। वे मनोरञ्जन मात्रकेलिए इतना समय और धन क्यों व्यय करें? वे चाहते थे कोई छोटी-सी चीज़। बहुधा ऐसे नवोत्साही नाटकका अभिनय करनेवाले विद्यालयों और कॉलेजोंके छात्र होते थे। सिनेमाके चल पड़नेसे मनोरञ्जनकेलिए दो-तीन घंटेसे अधिक देना बोझ प्रतीत होनेलगा।

इधर यह युग भी बुद्धि-प्रधान होनेलगा। ऐसी शैलीकी चाह पैदा हुई जो रस-उत्कर्षकेलिए विभाव-अनुभावके प्रथित पथसे मन्द-मन्थर गति को न अपनावे। युग-मात्र त्वरापर निर्भर करता है। यन्त्र और मशीनोंमें स्पीड-गति और त्वराका ही मूल-सिद्धान्त काम कररहा है—रेलोंमें बैठने वालेतक विवश होकर पैसेञ्जरमें बैठना चाहते हैं,चाह रहती है मेलमें चलनेकी: तूफान-मेलमें यात्रा करनेकी। उसमें भी बैठकर सन्तोष कहाँ? हमारे शरीरके अणु-अणुमें पुकार भरीहुई है–और जल्दी, जल्दी और जल्दी। हम आज, अतः रसोंका परिपूर्ण परिपाक नहीं चाहते, उग्र भावोत्कर्ष चाहते हैं। इस चाहनामें एक अभिमिश्रता'(कम्प्लेक्सिटी) यह है कि यह सब हम चाहते हैं बड़ी कोमलता और अस्पन्दनशीलताके साथ–जैसे एयर-कण्डीशंड डिब्बेमें गुदगुदे गद्दोंके बीचमें बिना धक्कोंका अनुभव किये रेलमें दौड़े-दौड़े चले जारहे हों। भावो-ग्रताके साथ हम उसका सहज साधन कोमल-सत्वसे संयुक्त चाहते हैं। उच्च-तम शिखरोंका आह्वान करके हम आज उनसे कहते हैं कि हमें अपनी उच्चतम फुनगीपर बिठाओ और फिर सहजही ऊँचे होजाओ—इतने कि बहुत; और जब पूर्ण उच्चतापर पहुँचजाओ तब जानें कि हम तो एक शिखरपर हैं। हृदय की अपनी गति भी है, पर वह मानसके तत्त्वोंसे संबद्ध होकर भी रहता है। बुद्धिवादिता जिसे 'विट' कहती है वह किसीभी विचार-सारिणीका शिखर है। यही कारण है कि आजकी कला विट के तन्तुओंको लेकर चलती है। कहानियों और उपन्यासोंमें भी इसी कारण हमें वर्णसंकरता मिलनेलगी है, वेभी सम्वादोंको प्रधानता देचले हैं। कुशल संवादकार हृदय और बुद्धिके तत्त्वोंको सँजोकर पात्रोंके कथोपकथनकी उक्तियोंमें भाव-जगतके उच्चतम शिखरोंको गर्भितकर रखदेते हैं।

इधर यथार्थ और आदर्शमें भी संघर्ष रहा है, उसमें भी यथार्थ की ओर आग्रह मिला। स्टेजको अपनी रूढ़ियोंके आदर्शसे मुक्त करना भी आवश्यक लगा। पाश्चात्य जगतमें जहाँ स्टेज, रंगमञ्च, का भी कुछ अर्थ होता

है, इब्सनने उस यथार्थताकेलिए क्रान्ति करडाली। इब्सनने जिस क्रान्ति का सूत्रपात किया वह रंगमञ्चीय क्रान्ति-मात्र नहीं भाव-क्रान्ति थी—शैली, विचार और भावोंके धरातलको बदलनेवाली। साहित्यमें इसी पहलूका प्रभाव पड़ा—उसे भारतीय-साहित्यने भी ग्रहण करलिया।

कुछ ऐसेही कारणोंसे हिन्दीमें एकाङ्की नाटकोंकी शैलीको अपनाया गया। इस शैलीमें, हमें प्रतीत होता है, विविध कलाओंकी विभिन्न शैलियोंमेंसे सबसे अधिक ओज और आकर्षण है। इसके भी कारण हैं। चित्र, संगीत, कहानी, नाटक, संवाद जैसे कला और साहित्यके विविध भेदोंमें गति, उग्रता, सीधी चुभन (डाइरेक्टनेस) और मादकता अथवा विभोरता एक साथ नहीं मिलसकी। जिन चित्रोंमें झाँकी-विधान-मात्र मिलता हो कि खींचकर सारा तत्त्व एक विन्दु अथवा रेखामें ही भरदिया गया हो और चित्रकारके बिना अपनी छाप छोड़े ही, बिना अपने अपनत्वका मोह किये कलाकेलिए ही विसर्जित करदिया हो, वे चित्र प्राप्त नहीं होसकते। रेखाओंमें खिचा रूप-प्रकार ही कलाका साधन चित्रोंमें है, उसमें मूर्तताके साथ-साथ अर्थ है, अर्थ और मूर्तता समवायी है। सौन्दर्यकी अपील अवश्य प्रधान है। किन्तु जैसे नाटकमें वैसे एकांकीमें भी चित्रोंकी इस कलाका आदेश मिलता है।

संगीतमें मादकता है, जो अर्थ है वह बुद्धि-युगसे दूरका है—संगीत तो स्वाद-मात्र है—बुद्धि और भावसे बचकर वह निकल जासकता है और जब वह इनके साथ लगेगा तो या तो नाटककी सृष्टि होगी और संगीत अर्थ-गर्भा होउठेगा, या संगीत भ्रष्ट होजायगा जैसे त्रिशंकु।

कहानी और एकांकी तो जाति और स्वभाव दोनोंमें भिन्न है। कहानी कहानीकारके व्यक्तित्वसे धुँधली रहनेवाली कला है—एक खिड़कीमेंसे सामने एक मनोरम दृश्य दीखता है। खिड़कीके बीचोबीच दृश्यको दिखानेवाला खड़ा है, और उस दृश्यको प्रकाशित करनेवाला सूर्य उस दिखानेवालेके पीछे है। सूर्य दृश्यको प्रकाशित तो कररहा है पर दिखानेवालेकी छायाको भी दृश्यकी भूमिपर परिपूर्णतः बिछायेहुए है। कहानी में कहानीकारके द्वारा ही हमें मानवकी झाँकी मिलती है। कहानी कला का सौन्दर्य ही इस द्वित्वके मेलमें है। यहीं कहानी एकांकीसे जातिमें भिन्न है। एकांकीकी भूमिका ही कहानीकी काया है।

संवाद-मात्र भी रोचक चीज़ है, पर वह अपने स्वतन्त्र रूपमें केवल बुद्धि-विवाद रहजाता है, तर्क और चोज़में उलझा वह अपनेमें पूर्ण-सा रहता है—उसका जीवनसे गौण और अप्रत्यक्ष ही सम्बन्ध होपाता है। यह एकांकीमें आकर चरित्रका प्रतीक होकर जीवनसे सुसम्बद्ध होजाता है। उस में व्यक्तिके व्यक्तित्व और कथाके सूत्रको आगे बढ़ानेकी शक्ति होती है।

यही कारण है कि 'एकांकी' में इन सबसे अधिक ओज और आकर्षण मिलता है। एकांकी निश्चय ही नाटकका एक रूप है—वह नाटकों के वर्गका है, पर जाति उसकी नाटकसे भिन्न है। गुलाबजल और गुलाबके इत्रमें जो अन्तर है वही नाटक और एकांकी नाटकमें है। नाटक में आनेवाले सभी तत्व एकांकीमें अपनी पूरी शक्तिसे समन्वित होउठते हैं। सूर्यकी किरणोंके दाहक तत्त्वको आतशी शीशेसे जिस प्रकार एक केन्द्रपर संयोजित करदिया जाता है, वैसे ही एकांकी नाटकोंके द्वारा नाटक के व्यापक किन्तु प्रभावशील सूत्रोंको उभारकर गाँठदिया जाता है। इस प्रकार एकांकी नाटककी व्याख्या करते समय यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि यहाँ जिन तत्वोंका उल्लेख होरहा है, वे रूप (फ़ॉर्म), शैली अथवा टेकनीकके तत्त्व नहीं, वे कलाके कॉन्टेन्ट्स—आधार-विषयोंके तत्त्व हैं। रूपके तत्त्व जातिका निर्णय करते हैं, एकांकीके रूप-तत्त्व नाटकके रूप-तत्त्व से भिन्न हैं, तभी जातीय भिन्नता है।

एक विद्वान्‌ने लिखा है:

"The short play is not a full-length play in tabloid form anymore than the short story is a full-length novel in miniature ......The two forms are separate and distinct, as distinct and separate as is the art of portrait-painter from the landscapist."‡

कॉन्टेन्ट्स: आधार-विषयके सम्बन्धमें भी स्पष्टीकरण आवश्यक है। आधार-विषयसे अभिप्राय नाटककी पूरी वस्तुसे नहीं, किन्तु वस्तुके उस स्वभावसे अभिप्राय है जिसमें नाटकीय उपयोगिता मिलती है। एकांकीमें भी वही 'वस्तु' विषय बनायी जायगी, जिसमें नाटकीय योग्यता है। किन्तु उसको एकांकीमें एकांकीकी टेकनीकसे ग्रहण कियाजायगा, नाटकमें अपनी टेकनीकसे। दोनोंकी टेकनीकमें महान् अन्तर है। ऐसा भी तो नहीं है कि

‡ पेन्गुइन बुक्सके 'सेवन फ़ेमस वन-ऐक्ट प्लेज़' की भूमिकासे

किसी नाटकका एक अङ्क ही 'एकांक' बनसके। एकांकीमें सूत्र और समस्याएँ उठकर अन्ततक किसी-न-किसी नियताप्तिको प्राप्त करलेते हैं। वे मुक्तक काव्यकी भाँति हैं, पर किसी नाटकका एक अंक अपनेमें ऐसी मुक्तक पूर्णता नहीं रखता, उसमें वह पूर्णता होती है जो किसी निबन्धके एक पैरैग्रैफ़में मिलती है। तो नाटकीय योग्यतावाले विषय वे हैं जिनमें अभिनयशीलता, कथांशमें गति, सुसम्वादता, पात्रोंकी पात्रता (चरित्रसे भिन्न, पर उसकी अन्तरंग मूल-भित्तीकी झाँकी करानेवाली आचरणसत्ता) आदि मिलती है, उनको अत्यन्त घनिष्ट और उग्र करके, सम्पूर्ण अव्यर्थताके साथ मिलादिया जाता है।

इस प्रकार यह एकांकी–आजका–नाटकसे भी अधिक ग्राह्य होचला है। इसका प्रचलन साहित्यकी अथवा मनोरञ्जनकी किसीभी अन्य प्रणाली से क्षुब्ध नहीं होसकेगा। सिनेमाने जहाँ नाटकके बड़े-बड़े रंगमञ्चोंको ठंडा किया है वहाँ एकांकीको प्रोत्साहित किया है। सिनेमाने हमारेलिए नाटकीय मनोरंजनकी तो अपूर्व सुविधा उपस्थित करदी है, उतनीही अभिनयके प्रति रुचि भी बढ़ादी है। मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भी केवल देखना नहीं चाहती, दिखाना भी चाहती है। मनुष्य स्वयं अभिनय भी करना चाहता है। उसकेलिए एकांकीसे अच्छा साधन नहीं।

यह ठीक है कि अंग्रेज़ीमें एकांकी नाटकोंका उदय उनकी स्टेजकी अपनी निजी आवश्यकताके कारण कर्टेन रेज़र के रूपमें हुआ, पर उस आवश्यकताका साहित्यकी आवश्यकतासे ऐसा क्या सम्बन्ध है? साहित्यमे भी इन एकांकियोंने क्या इसीलिए स्थान पाया कि उन्होंने थियेटर मैनेजरों की व्यावसायिक कठिनाइयोंका हल निकालदिया था। साहित्यमें उनका आदर उनकी अपनी उन विशेषताओंके कारण हुआ, होना चाहिए जिनका ऊपर कुछ उल्लेख हुआ है--और इसी कारण उन्होंने रङ्गमञ्चहीन हिन्दी में भी जड़ पकड़ली है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि हिन्दीके एकांकी खेले नहीं गये हैं, अनेकों एकांकी हिन्दीमें विद्यालयों आदिके नवोत्साही नाटक संघों-द्वारा अभिनीत हुए हैं।

आजके एकांकी नाटकोंको भी कितनेही प्रकारोंमें विभाजित किया जासकता है। वे विषादान्त (ट्रैजेडी) भी होसकते हैं और प्रसादान्त (कॉमेडी) भी, यथार्थवादिता लिये और आदर्शवादिता लिये भी,—ये

तो वे उद्देश्य और परिणामकी दृष्टिसे हुए। वे समस्या-प्रधान होसकते हैं, और तथ्यात्मकता लियेहुए, या आदर्श उपस्थित करतेहुए होसकते हैं। यह वस्तुकी दृष्टिसे विभाजन हुआ। पर एकांकी नाटककी आज कई शैलियाँ भी प्रचलित हैं। एक शैली वह जिसमें पूर्णव्यस्त कथानक होता है, उसका आदि और अन्त सन्तुलित, क्लाइमैक्स निश्चित स्थानपर आता है। ऐसे नाटकोंमें निश्चय ही मानवको किसी-न-किसी भूत-जगत्की घटना अथवा मानसिक-जगत्की घटनापर घूमनेवाला मानना पड़ेगा। यह घटना भ्रम-मात्र होसकती है। 'लक्ष्मीका स्वागत' ऐसा ही एकांकी है। करुणाके सूत्रसे रोशनके प्रति सहानुभूतिकी रेखा ऊर्ध्वगामिनी होनेलगती है, बालककी मृत्यु और रोशनके विवाहके शगुनकी बधाईसे सहानुभूतिकी रेखा ऊर्ध्वतम विन्दुपर पहुँचजाती है और व्यवसायी-बुद्धिके प्रति घृणा और तिरस्कार भी उतनाही ऊँचा होजाता है। वहीं नाटक समाप्त। भ्रमके सहारे चलनेवाले अँग्रेज़ीके दो नाटक प्रसिद्ध हैं; दोनों स्टैन्ली हॉटनके लिखे हुए हैं। एक है 'द डीअर डिपार्टेड' इसमें अपने वृद्ध पिताको मराहुआ समझलेनेका भ्रम होगया है, और उसकी सम्पत्तिकेलिए आपसमें दो बहनोंमें कलह होती है। वृद्धके जगकर उनके बीचमें आ उपस्थित होने और उनकी अवस्थाको विचारकर अपनीविल बदलनेके साथ नाटक समाप्त होता है। ऐसेही दूसरे नाटक 'द मास्टर ऑव द हाउस' में गृहपति मरापड़ा है, घरके व्यक्ति समझरहे हैं जीवित है, इसी भ्रमपर नाटक आश्रित है, और डाक्टरके आनेपर भ्रम दूर होता है और स्थितिमें परिवर्तन। इनमें स्थान चाहे एकही हो पर व्यस्तता रहती है और कौतूहल बनारहता है। रामकुमार वर्माका 'दस मिनट' भी इसी शैलीका अच्छा उदाहरण है। कौतूहल बुद्धि-तत्त्वों और भावतन्तुओंको एकाग्र करनेका एक सहज साधन है। इसे केवल कौतूहलके नाते कभी अश्लाघ्य नहीं माना जासकता। कुछ समझते हैं कि कौतूहलसे कलाका ह्रास होता है, अस्वाभाविकता आजाती है। यह बात पूरी तरह ठीक नहीं है। कौतूहलका अस्वाभाविकतासे नित्य सम्बन्ध नहीं। स्वाभाविकताकी बिना क्षति कियेहुए भी कौतूहलका उपयोग किया जा सकता है, और उससे कला जगमगा उठती है। ऐसेही कौतूहलको जिन नाटकोंको अपना विषय बनाना है, वे इस प्रकारकी शैली अपनायेंगे।

दूसरी शैलीमें कथा-विन्यासकी शक्ति और कौतूहलपर निर्भर नहीं

किया जाता। नाटककी गतिमें स्वयमेव एक विकास होता चलाजाता है और एक स्थानपर वह जैसे समाप्त होलेता है, अथवा आगे बढ़नेमें जैसे कोई कहनेकी बात ही नहीं रहगयी अतः रुकलिया जाय, इसलिए रुक गये। इसमें लेखकका उद्देश्य तो कुछ कहनेका अवश्य होता है। जैसे 'कॉमरेड' है। उसमें प्रतिनायककी कुछ कल्पना तो है, पर वह नायक-नायिकाके सम्बन्धको उभारकर ऊपर लानेकेलिए है। नायक और नायिका कॉमरेडकी भाँति है। दोनों सहयोगियोंकी भाँति हैं, पर परस्परमें कुछ विशेष आकर्षित भी हैं। इस आकर्षण और पारस्परिक विशेष सौहार्दका प्रतिनायक प्रतिस्पर्द्धामें स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें कल्पना कर उसे अर्थ देदेता है--रात्रि में दोनों नायक तथा नायिका मिलते हैं, वे उस अर्थको समझने लगते हैं। मेंह उन्हें अकेलेमें रातभर साथ-साथ रहनेकेलिए विवश करता है—और वह अर्थपूर्ण होजाता है। प्रातः प्रतिस्पर्द्धीको अपने ईर्ष्याकी कल्पनाका चित्र सफल हुआ मिलता है। यहाँ आकर लेखकका उद्देश्य पूर्ण होजाता है और नाटक भी रुकजाता है। इस शैलीके एकांकियोंमें क्लाइमेक्स होता है, पर वह वस्तुके विकासकेलिए तीव्रतम परिस्थितियोंके संघटित होने और विकास की गति तीव्र करनेकेलिए आता है—कभी नहीं भी आसकता। इसमें संघर्ष भी प्रधान नहीं, केवल उद्दीपककी भाँतिही वह होता है। कॉमरेडका प्रति-नायक शीला और रमेशके पारस्परिक अर्थको स्पष्ट करने और अपनेको विषम भूमिकामें उपस्थितकर उन दोनोंके सामने प्रश्न-चिह्न-सा खड़ा करनेकेलिए आया है—आखिर इतने कॉमरेडोंमेंसे वे ही परस्पर इतने घनिष्ट क्यों हो उठे हैं? यह उद्दीपन ही हुआ, संघर्ष नहीं, विकासकेलिए जलवायु और धूप जैसे पोषकतत्त्व ये हैं। रामकुमार वर्माके 'नारीकी वैज्ञानिक परीक्षा' में भी यही बात मिलती है। उसमें तो प्रतिनायक तत्त्वका भी एकान्त अभाव है। घटना-प्रधानता भी इस प्रकारके एकांकियोंमें नहीं होती।

तीसरे प्रकारकी शैलीके एकांकियोंमें प्रधान धर्म मिलता है प्रवह-मानता। इस प्रकारके एकांकियोंमें प्रवाह ही होता है, कोई बात आरम्भ होकर योंही चलती चलीजाती है। ऐसे नाटकोंमें जब संघर्ष मिले, अन्तर अथवा वाह्य, तो मानना होगा कि प्रवाह ऊपर उठना चाहरहा है; वेग-आकुलता मिले—ए स्वीप—तो मानना होगा कि प्रवाह निचाईकी ओर जा रहा है, और जब मन्थर गति मिले—प्रवाहसे अधिक प्रकम्पन दीखे तो कहना

होगा कि प्रवाह समतल धरातलपर है। जैनेन्द्रका 'टकराहट' ऊर्ध्व प्रवाह से युक्त है। जीवनकी धारा मानव-निर्मित परिधियों और सीमाओंसे टकराकर उठना चाहरही है। भुवनेश्वर मिश्रका 'स्ट्राइक' समतल-प्रवाही है। ऊर्ध्व-प्रवाही एकांकीमें चिन्तन और गंभीर वैशिष्ट्य मिलता है, समतल - प्रवाही में लाइट मूड —अव्यस्त मानसिक चेष्टा—मिलती है।

इस शैली-विभाजनसे यह स्पष्ट होजायगा कि एकांकियोंकी शैलियां में जो विशेषताएँ मिलती हैं वे विविध हैं, किन्तु नाटककी शैलीसे एकदम भिन्न हैं।

एकांकीमें, यहीं यह जानलेना भी ठीक होगा कि, वस्तु-विधानमें भी दो-तीन प्रकारकी शैलियोंका उपयोग कियाजाता है। एक तो ऐसे एकांकी हैं जिनमें वस्तुका फैलाव बहुत लम्बे कालको घेरेरहता है, अथवा विविध स्थलों—दूर-दूरके स्थानों तकको दृश्यके अन्तर्गत लेलेते हैं। इनमें कितनेही दृश्य रखेजाते हैं। इस प्रणालीके नाटक केवल इस शब्दार्थको ध्यानमें रखकर ही एकांकी हैं कि उनका अङ्क एक है, यद्यपि दृश्योंकी विविधतासे ऐसे एकांकियोंमें विविध अङ्कवाले नाटकोंका ही रूप खड़ा होजाता है। एक - एक दृश्यको एक-एक अङ्कभी मानलियाजाय तो कोई बड़ी हानि नहीं होगी। कलाकी दृष्टिसे एकांकियोंमें समय और देशको इतना सीमित करदिया जाना चाहिए कि एक ही स्थलपर संवाद - कौशल और भावाभिनयके उत्कर्षसे, बिना दृश्योंका परिवर्तन किये उनको ठीक-ठीक व्यक्त किया जासके। उपेन्द्र-नाथकी 'जोंक' घटनावृत एकांकी है, भूतकालकी अनेक बातें आती हैं, पर एकही समय और एकही स्थलपर उन्हें घटित संवाद अथवा घटनाके द्वारा व्यक्त करदिया गया है। हमारी हिन्दीके अधिकांश एकांकी इसी प्रणालीमें लिखेगये हैं।

हिन्दीमें इनके साथ - साथ 'झाँकी', 'रेडियो प्ले,' आदि भी लिखे गये हैं। ये सभी उच्च कोटिकी कला उपस्थित करते हैं। अपवादोंको छोड़ कर सभीमें कलाके सहज और सात्विक तत्त्वोंका समावेश मिलता है। दृश्य-चित्रण, संवाद, अभिनय-संकेत सभीमें संस्कृत रुचि, गंभीर अनुभव और उच्च मनीषिताके दर्शन होते हैं। अकृत्रिम स्वभावोंका प्रदर्शन है जिनके द्वारा 'मानव' के जीवनके सहज सौन्दर्यकी अनुभूति होनेलगती है। मध्यम वर्गके कृत्रिम-जीवनके आलिंगनमें व्यस्त और जीवनकी सजीव समस्याओं

को सदा उपेक्षासे देखनेवाले प्राणियोंके चित्र हमारे आजके एकांकीकारोंने उपस्थित किये हैं। इस वर्गकी सम्पूर्ण ध्वस्तश्री को उनके रहन-सहन और बातों द्वारा अत्यन्त सफ़ाईसे ये लोग प्रकट करसके हैं—पर सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन सबको उन्होंने एक ऐसी कलात्मक व्यवस्थासे उपस्थित किया है कि नाटकके वातावरणमें जो अर्थ ओत-प्रोत हुआ मिलता है वह उनकी विडंबनापूर्ण वस्तु-स्थितिसे विक्षुब्ध नहीं हुआ, वह शुद्ध मानवी सौन्दर्य को प्रकट करसका है।

आजका एकांकीकार वास्तवमें 'सत्य' की ओर आकर्षित प्रतीत होता है। 'सुन्दर' के अर्थमें आजतक रोमान्सका जो भाव समावेशित होजाता था वह निकाल दियागया है—प्रेम है पर वह रोमान्स होकर नहीं आया—'कॉमरेड' और 'भोरका तारा' इस प्रयासकी सफलता प्रकट करते हैं। पर 'प्रेम' को तो बहुत कम एकांकियोंमें स्थान दियागया है—बिना इसके भी उनमें सौन्दर्यका अभाव नहीं हुआ है—एकांकी कला कहानीकी अपेक्षा इस दिशामें अधिक सफल हुई है कि बिना इन हलके ऊष्म तत्त्वोंको लिये ही सौन्दर्यकी उपस्थिति प्रत्यक्ष करासके। प्रत्येक एकांकी कटे-छँटे हीरेकी भाँति अपनी सौन्दर्यकी रेखाओंसे प्रकाशित दीखपड़ता है। बुद्धिवादी युगके ये एकांकी ही कहानीकी अपेक्षा अधिक निकटके प्रतिनिधि हैं। शिवत्व भी इन कहानियोंमें है, न्याय है—पर आज कलाको सत्य, शिव, और सुन्दरसे नहीं देखाजाता। संसारके अन्य मूल्योंमें परिवर्तन होजानेसे कलाके मूल्यमें भी वह अन्तर आचला है। एकांकीमें वह अन्तर स्पष्ट दिखायी पड़ता है। उसमें कवि न सत्यको, न शिवको, न सुन्दरको—न इन सबके रासायनिक अभिमिश्रण को चित्रित करता है—इनकी अनुभूतिको भी वह नहीं रखता। इस अनुभूति का दावा करना आजके कविने—और एकांकी नाटककारने भी, छोड़ दिया है। आज वह समग्रताका कवि है और समग्रता न सत्य है, न शिव, न सौन्दर्य, न इनसे बनी चीज़—समग्रता इनकी सम्पूर्णतासे भिन्न वस्तु है। समग्रता जीवनकी समवायी है—वह सत्य है अथवा असत्य, शिव है अथवा अशिव, सुन्दर है अथवा असुन्दर ऐसा कुछ भी नहीं कहा जासकता आजके कलाकारकेलिए वस्तुतः ऐसा कुछभी है ही नहीं। वह सत्यकी अपेक्षा 'सत्ता' का प्रतिनिधित्व करता है। एकांकियोंमें यह बात अन्तरमें अंकुर-सी अभी उपस्थित है। हमारे एकांकी ऐसे मेधावी नाटककारकी बाट जोहरहे

हैं जो इस आधुनातन प्रसिद्धताके केन्द्रपर जीवनकी सम्पूर्ण समस्याओंका हल अथवा समर्पण उपस्थित करदे—यह समग्रता ही नयी संस्कृतिकी धुरी होसकेगी उसे एकांकी द्वारा प्रबल शक्तिसे, परिपुष्ट मेधासे रखनेकी आवश्यकता है

एकांकीकारको इसकेलिए वर्गवादका निश्चय ही हनन करना होगा, वर्गवाद बुद्धिवादकेलिए तिरस्कार है, सर्वोदय उसकेलिए भुलावा। एकांकीकारको नग्न मानवके पास पहुँचकर उसके दर्शनसे समस्त दर्शन (फ़िलॉसॉफ़ी) को परितृप्त करनेकी आयोजना करनी होगी। कलाकी सामर्थ्य उसकी क्षीण होजायगी यदि वह किसी प्रलोभनमें आज जहाँ है वहाँ खड़ा रहजायगा। अनजानमें एकांकियोंकी प्रणालीके साथ जो समग्रताके तत्त्व उसमें अंकुरित हुए हैं उन्हें उसे जन और निर्जनके स्वत्वके नहीं सत्ताके पास लेजाकर समृद्ध करना होगा।